श्रीहरिः

श्रीगुसांईजीको वंदन

सायं कुञ्जालयस्थासनमुपविलसत्स्वर्णपात्रं सुधौतं
राजद्यज्ञोपवीतं परितनुवसनं गौरमम्भोज वक्त्रम्।
प्राणानायम्य नासापुटनिहितकरं कर्णराजद्विमुक्तं
वन्देऽर्धोन्मीलिताक्षं मृगमदतिलकं विट्ठलेशं सुकेशम्॥

सायंकालमें संध्या वंदन करते हुअे कुंजालयमें रहे हुअे आसनपर बिराजमान, निकटमें सुशोभित सुधौत स्वर्णके पात्रवाले, शोभायमान यज्ञोपवीतवाले, धारण किये हुअे अंत्यत सूक्ष्म वस्त्रवाले, गौरवर्णवाले, कमल जेसे मुखवाले, प्राणायाम करके नासिका पर रखे हुअे हस्तवाले, कानोमें सुशोभित मोतीवाले, आधे खुले हुअे नेत्रवाले, कस्तूरीसे किये हुअे तिलकवाले, सुन्दर केशवाले प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी श्रीगुसांईजीको में वन्दन करता हूँ।

卐

विज्ञप्ति

(हृदय-संस्पर्श, मञ्जुश्री)

अनुभावक:
नवनीतप्रिय शास्त्री

प्रकाशक: 'विधानिधि' (ट्रस्ट) • सौजन्य: श्री भागवत परिवार (दुबई)

श्रीहरिः
"॥ सा विद्या तन्मतिर्यया ॥"

"विज्ञप्ति"

(हृदय–संस्पर्श)

(अन्वयार्थ–भावार्थ–मञ्जुश्री)

: अनुभावक :
भागवतभूषण, भागवतरत्न, भगवच्छास्त्रनिष्णात
नवनीतप्रिय जेठालाल शास्त्री
वल्लभवेदान्ताचार्य (प्रंदत्त – सुवर्णचन्द्रक), काव्यतीर्थ
सिविल एन्जीनीअर

: प्रकाशक :
"विद्यानिधि" (ट्रस्ट) नडीआद
सौजन्य : श्रीभागवत – परिवार
(दुबई)

श्रीहरिः

प्रकाशक : विद्यानिधि (ट्रस्ट)
"व्रजविहार", मोटीपोल, मोदीसांथ,
नडीआद – ३८७ ००१; (जि. खेडा), (गुजरात)
फोन नं : ५०९०८

: न्योछावर :
रू. ३० = ००

वी. पी. नहि होगा, भेजने का खर्च अलग ।

इस ग्रन्थ के सर्वाधिकार अनुभावक को स्वाधीन है ।

प्रथमावृत्ति प्रत–२०००, वि. सं. २०५२, इ.स. १९९६

: ग्रन्थप्राप्ति–स्थान :

१ **श्रीनवनीतप्रिय शास्त्री**
ठि. "व्रजविहार",
मोटी पोल, मोदीसांथ,
मु. नडीआद – ३८७ ००१
(जि. खेडा)
फोन नं – ५०९०८

२ **श्रीविट्ठलदासभाई काराणी**
ठि. "नन्दालय"–प्लोट नं.–२०
हाटकेश को. ओ. हा. सोसाइटी,
जुहुस्कीम – छठ्ठा रास्ता,
वीले – पार्ले (वेस्ट)
मु. मुबइ – ४०० ०५६
फोन नं. ६१११९१८५, ६१७७५६७

३. **श्रीपीयूषभाई शाह**
ठि. "हरिकुंज"
सी. अेन. विद्यालय सामे,
आंबावाडी, मु. अमदावाद ३८०००६
फोन नं. – ४४४००८

४. **सौ. नीता पटेल**
"कलानिधि"
ठि. जी. एफ. ९, विन्डसर प्लाझा
आर. सी. दत्त रोड,
मु. वडोदरा – ३९० ००५
फोन : (ओ.) ३२०२३५, (घर) ३१०७८९

५. **श्रीमति मधुकान्ताबहन शाह**
(गोल्डफिल्डवाले)
ठि. चंदनमलमेन्शन,
दूसरा माला, भोगवाडी के सामने
कालबादेवी
मु. – मुंबइ – ४०० ००२
फोन नं. २०१२७१५

६. **श्रीवैकुंठभाई भगत**
ठि.. झवेरी महोल्लो
मु. भरुच – ३९२ ००१

विदेशमें : १. **सौ. रेखा राज,** सिंगापुर । फोन नं. ४४८–२३२४
२. **श्रीमति विमलाबहन अमीन,** अमेरिका ।
फोन नं. (२०१) ७२६–३९६४
३. **सौ. मंजु काराणी,** दुबई । फोन नं. ७१४– ४५४३६१

मुद्रक : **श्रीयोगिनभाई परीख,** न्यु–टेक. फोटो कम्पोझर, नडीआद ।

श्रीहरिः

श्रीगुंसाईजी हृदय–संस्पर्श–पुनित

"विज्ञप्ति"

भावार्थ – मञ्जुश्री

प्रकाशन–प्रसङ्ग

यह **"विज्ञप्ति"** तो दो सर्वाधिक – सुदृढ – स्नेहवाले हृदयोंमेंसे एक की विप्रयोगकी तडपनका, पुनित हृदय – संस्पर्शका, शब्द – शरीर है, उत्कट – भाव – विहार है ।

"भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।"– श्रीभागवत (१० – ४७ – २९) – "आपका वियोग मुझे नहीं, मेरा वियोग आपको नहीं, कोइ रूपसे नहीं, कहीं भी – कभी भी नहीं ।" – भगवानने कह दिया हैं । भगवानने उसका हेतु भी बताया, – **"आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावतः ॥"**– श्रीगोपीजनका वियोग भगवानको नहीं हैं, – क्योंकि भगवान् सबकी आत्मा हैं । भगवानका वियोग श्रीगोपीजनको नहीं हैं, – क्योंकि भगवान् तो भक्तवश हैं । कालभेदसे भी वियोग नहीं हैं, – क्योंकि "भक्तके ऋणमें से में (भगवान्) छूट नहीं सकता हूं",– यह बचन सत्य हैं । देशभेदसे भी वियोग नहीं है, क्योंकि भगवान् व्यापक – रूपसे सर्वत्र विराजते हैं, ब्रज त्यजके अन्यत्र पधारते नहीं हैं, स्त्रीयोंके उपर विशेष कृपालु है, यह उनका स्वभाव हैं । इस श्लोकका यह उत्तरार्ध श्रीमहाप्रभुजीने पूरा किया है ।

व्यासाश्रममें व्यास–महर्षिजी उसे सुनकर संमत हुए हैं।

वियोग तीन प्रकारसे होता है, – १. स्वाभाविक (वास्तव), २. **औपाधिक (आगन्तुक)**, ३. **अज्ञानसे** । संयोगके संवेदनका न होना (विशिष्ट स्मृतिसे दुःख होना), वियोग हैं । वह तो जीवको भगवानके साथ वास्तव या आगन्तुक नहीं हैं, किन्तु अज्ञानकत होता हैं । सच्चिदानंद ब्रह्मका ही चिदंशरूप जीव हैं, परस्पर भेद नहीं हैं ; फिर भी उपाधिसे होता हुआ (औपाधिक) भेद है । इसमें मर्यादा–प्रवाह–पुष्टि–भेदसे उपाधि भिन्न भिन्न हैं । १. **उद्गम :** – "**यथाग्नेः क्षुद्राः स्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति ।**"– श्रुतिके अनुसार, अग्निमेंसे छोटी छोटी चिनगारीयाँकी तरह जीव ब्रह्ममेंसे अलग हुए । २. **माया** :– "**जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति ।**"– श्रुतिके अनुसार जीव–इश यह दो भेद आभाससे करता हैं, माया और अविद्या स्वयं ही होते हैं । ३. **भगवदिच्छा :**– "**बहुस्यां प्रजायेय**–"– श्रुतिसे "मैं बहु हो ऊँ"– से स्वयं अनेकरूप होते हैं । ४. **अज्ञान :**– अविद्या, यह मायावादमें उपाधि हैं । माया ऐसे ज्ञानमें करण–(साधन) होती है , ब्रह्मकी बहुरूपतामें नहीं । श्रुति तो –"**इन्द्रो मायाभिः, पुरुरूप ईयते ।**"– कहती है "**पुरुरूपो बभूव**"– नहीं कहती हैं । सृष्टिभेदसे जीवोंके परस्पर–भेदकी विविधतामें भी ब्रह्म तो सर्वत्र एक ही हैं, अतः तीनों उपाधि भेद नहीं कर सकती हैं । इसलिये तो भेद या वियोगमें कारण है, मात्र अज्ञान ! ब्रह्ममें तो भेद या अज्ञान है ही नहीं । जीव ही अज्ञानसे भेद या वियोग मानता है, अतः दुःखी होता हैं । भगवान् किसीका त्याग करते नहीं हैं, और किसीने अपना (भगवानका) त्याग किया,– ऐसा मानते भी नहीं हैं । इस प्रकार, वास्तव–रूपमें वियोग न होने पर भी, एकदेशसे वियोग चार प्रकारसे संभव है; १. **भगवत्कृत,** २. भक्तकृत, ३. कालकृत, ४. **देशकृत** । यह भी भगवानकी आत्मरूपतासे, भक्तवशतासे, सत्यवचनसे, स्वभावसे संभव नहीं है ।

श्रीनन्ददासजी रसात्मक–वियोगके चार प्रकार बताते हैं,– १. **प्रत्यक्ष :** प्रियतमके पासमें होने पर भी, अद्भुत रस–स्वभावसे, प्रियके दूर होने की कल्पना–मात्रसे, प्रत्यक्षमें भी वियोगका अनुभव होता है । यह अनुभव तो मुख्य–स्वामिनीजी श्रीराधाजीको ही होता है । २. **पलकान्तर :** प्रियके दर्शनादिमें नेत्रकी पलक जितना भी विलंब प्रियाजीको असह्य होता है, त्रुटि जितना काल भी युग जैसा लंबा लगता है, ऐसे वियोगानुभवसे भी दुःख होता है । ३. **वनान्तर :** प्रिय अन्य वनमें हो, संकेत–स्थल न मिले, यह असह्य होता है, प्रियाजीको वियोगसे दुःख होता है । ४. **देशान्तर :** प्रिय ब्रजमेंसे अन्यत्र (मथुरादिमें) पधारे, ऐसी भावनासे भी प्रियाजीको वियोग–दुःख होता है । वास्तवरूपमें तो श्रीगोपीजनके भावात्मक भगवान् तो ब्रज त्यजके अन्यत्र पधारते ही नहीं हैं । रससत्ता तो रसवालोंके हृदयमें ही होती है ।

आनन्दमय भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी लीलाके पदार्थ भी आनन्दमय पुरुषोत्तम–रूप ही हैं; विश्व जैसे विभूतिरूप नहीं हैं । कारणरूप भगवान् और कार्यरूप भक्तदेहादि अलग नहीं हैं । लीलोपयोगिनी अंतरंग योगमाया के प्रभावसे लीलामें भी भक्तोंमें

भेद–वियोग–दुःखादि लीलानुरूप लगते हैं, आनन्दादि मुख्यरूप भगवानमें ही प्रकट लगते हैं । “ब्रह्मसूत्र” “अणुभाष्य” में – “**सर्वाभेदादन्यत्रेमे** । – (३–३–१०)” तथा “**आनन्दादयः प्रधानस्य** । (३–३–११)”– में यह सब स्पष्ट हैं । नित्यलीलास्थ भक्तोंके देहादि भी ब्रह्मात्मक–आत्मरूप– आनन्दात्मक ही हैं । लोकमें होनेवाली लीला भी लोकसमान न हो तो लीलारसानुभव नहीं होता है । अतः तो “**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** ।”– ब्रह्मसूत्र (२–१–३३) है,–लोकवत् लीला है, लीलामें लीलाके सिवाय ओर कोई प्रयोजन होता नहीं है । लीलाका प्रयोजन लीला ही है । लीलाविषयमें सर्वसमर्थ भगवानको कुछ पूछना शक्य नहीं है । यही लीला मोक्ष है । उसके लीलारूप होने पर भी उसके कीर्तनसे भी अन्य को मोक्ष मिलता है । लीला लोकवत् है, लौकिक नहीं है ।

इन्द्रियोंके विषयोंके ध्यानमेंसे मनको रोकना चाहिये । ऐसा ध्यान भी दूसरा जन्म होनेका सूचक है, –स्वप्नकी तरह । इसलिये प्रथमतः इन्द्रियोंको विषयोंमेंसे रोकनी चाहिये । इससे मन रुके, वश हो सके, स्थिर हो सके । विषयोंमेंसे रुका हुआ मन, आत्माका देहादिसे अलग अनुभव करता है, फिर जन्म–मरणके चक्करमें घूमनेका रहता नहीं हैं । सब शास्त्र मनको ही बश करनेको कहते हैं । वश किया हुआ मन ही फलमें साधनरूप होता हैं । सर्वतः मनकी निवृत्तिसे, केवल प्रभुपरायण होने से, लोकवत् लीला जानी जा सकती है ।

नित्य–लीला–निरत भगवान् श्रीकृष्ण तो शृंगाररस–रूप हैं । शृंगारके दो दल माने गये हैं, – १. संयोग; २. वियोग । दोनों के अनुभवसे ही पूर्ण–शृंगार–रसका अनुभव होता है । रासमें भी संयोग–वियोग–संयोग–वियोग ऐसा अखण्ड अनुभवक्रम दिखता है । पुष्टि–भक्तिमार्गीय सेवाप्रकारमें भी अवसरमें संयोग है और अनवसर में वियोग है । संयोगके सुखानुभवके बिना वियोगका दुःखानुभव नहीं और वियोगके दुःखानुभवके बिना संयोगकी सुख–पुष्टता नहीं । दोनों परस्पर पूरक जैसे जुडे हुए ही हैं । सम्यक् योग भगवानसे, होता है, –संयोग । विशेष योग भगवानसे, होता हैं,– वियोग । संयोग–वियोग ही है,– कृष्णयोग । महानुभावोंको अपनी अपनी भाव – विशेषतासे किसी एककी मुख्यता भी लगती है; यह तो रसमस्ती है ।

संयोगमें आँखको आकर्षण करनेवाले कृष्ण वियोगमें मनका आकर्षण करते हैं । इससे बिना साधन ही मन वश हो जाता है । यह तो पुष्टि है । भगवद्–भजनानन्दका अनुभव तो ब्रह्मानन्द या मर्यादा–भक्तिफलरूप आनन्दसे तो करोडो गुना अधिक है, अनिर्वचनीय है । संयोगमें नयी नयी रसलालसा होती है, तदनुकूल यत्न होता है, परंतु पूर्वानुभूत लीला–स्वरूपका तल–स्पर्श नहीं होता है । वियोगमें तो मन–प्रभृति इन्द्रियोंको उनका बाह्यविषय –(प्रभुसंबंध) नहीं मिलनेसे अन्दर रहे हुए प्रभुका संबंध होता है । इस समय बाह्य–रसानुभवसे भी विलक्षण

रसानुभव होता है। संयोगमें भी वह तो दुर्लभ होता है। यह महारस–दान के लिये भी भगवान् ऐसी लीला करते हैं। संयोगमें तो देह भगवानको उपयोगी होनेसे देहानुसंधान भी होता है, वियोगमें तो यही भी नहीं होनेसे विशेष रसानुभाव होता हैं। सर्ववृत्तियोँको छोडके, संपूर्ण मन भगवानमें रखके, सेवा–दर्शनादिमें अनुभूत भगवानका नित्य (अनु) स्मरण रहे, तो अविलंब ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

ब्रजभक्तोंकी कृष्णवियोगाधि दूर करने के लिये उद्धवजी प्रिय–संदेश लेकर ब्रजमें आये। उद्धवजीने तो ब्रजमें इन ब्रजभक्तोंकी अवस्था देखी, – या **अन्तर्निष्ठा** या **विरह**! उन्होंकी तो अन्य लौकिकी अवस्था ही नहीं हैं। यह देखकर उद्धवजी परम प्रसन्न हो गये। (पुष्टि) **भक्तोंको तो ऐसे ही रहना चाहिये।** श्रीगोपीजनमें तो ये दोनों अवस्था हैं, उद्धवजीमें तो एक ही हैं। यह पुष्टिभक्तोंका आधिक्य है। आधुनिक पुष्टिभक्तोंको यह सुलभ है, –श्रीगोपीजन–कृपासे, श्रीमदाचार्यचरणों के अनन्य दृढाश्रयसे, ऐसे तापात्मक भक्तोंके तापभाव–सभर–वचनसेवन से! श्रीचन्द्रावलीजी–रूप श्रीगुसांईजी द्वारा विप्रयोग–प्रसंगसे यह तापभाव – संवलित वचन "**विज्ञप्ति**"– के रूपमें स्वजनोंको सुलभ हो गये। लीला–प्रसंग–कथा तो सिद्ध–प्रसिद्ध है। एसी नव "विज्ञप्ति" हैं, प्रत्येकमें उत्कट–विरह–भाव–भरित वचन पचीस श्लोकमें हैं। भाव–विलक्षणतासे उसकी अभिव्यक्तिके वृत्त भी विलक्षण दिखाई देते हैं।

विविध छंदोंका कष्णको विनियोग हुआ है। अन्तर्निष्ठा एवं विरह – प्रदान–क्षमता और दक्षतासे श्रीगुसांईजीके वचन सिद्ध–प्रसिद्ध हैं। संभवतः, प्रभुको तो वियोग न होने से (!) उनके बचन श्रीगुसांईजी अधरामृत–रूपमें पान कर गये! अतः उपलब्ध नहीं हैं! पुष्टि–भक्तिवृद्धिमें, भाव–जागृतिमें, अन्तर्निष्ठा एवं उष्णभावके प्रबोधमें, उपयोगी होने से कृष्णकृपासे अभी यहाँ प्रथम "**विज्ञप्ति**" की "**भावार्थ–मञ्जुश्री**" प्रकाशित होने जा रहा है। पुष्टि पुरुषोत्तमकी केवल पुष्टि ही है।

भगवदिच्छासे ही वर्षो पूर्वमें अनायास ही दुबाई जाना हुआ। सर्वसमर्थ पुष्टिप्रभुने अशक्यको शक्य कर दिया! सरल **श्रीविट्ठलदासजी काराणीजी** एवं भावसुभद्र **सौ. लक्ष्मीबहन** साथमें ही थे। प्रसंगवशात् सुभद्रहृदय चि. सौ. **बहन मंजु** तो सिद्धान्त–निष्ठ पुत्रीकल्प हो ही गई! अद्‌भुत भगवल्लीला है। यह पुत्रीके भावपोषणके लिये पुष्टिप्रभु–महाप्रभुजीने ही चाहा! लौकिक तो कुछ देना ही नहीं था। कृपासे यह अलौकिक ही स्फुर्ति हुई! अंतर्निष्ठा एवं उष्णभाव–समृद्धि–वृद्धिके लिये यथावकाश "**विज्ञप्ति**" का भावास्वाद – "**मञ्जुश्री**" पुत्रीकल्प **चि. सौ. मञ्जु** के लिये अनायास यथामति अवतरित हुआ! ता. १५/५/८६ से ता. १०/६/८८ तक यथावकाश पत्रके रूपमें भावपोषण–प्रयत्न चलता रहा! अनेक ग्रन्थप्रकाशन – कथाप्रवासादिसे उसमें विलंब भी होता रहा। वर्षो के बाद पुनः दुबाईमें कथाप्रसंग–परवश जाना हुआ। अनेक विचित्र व्यापारिक–व्यावहारिक–

श्रीभागवतकथाओंमेंसे दुर्लभप्राय यथार्थ श्रीमहाप्रभुजीके अभिलषित अर्थावबोध एवं अध्ययनार्थ, अनायास ही कृष्ण कृपासे, “**श्रीभागवत–परिवार**”–भावना मूर्तिमती हुई ! –पंडित होनेके लिये नहीं, प्रभुके प्रिय होनेके लिये सन्निष्ठ प्रयत्न शुरू हुए । “**कर्ता कारयिता हरिः ।**”– करने करानवाले श्रीहरि ही हैं ।

भद्रहृदय **चि. सौ. बहन मञ्जुने** उसके भावपोषणकी धरोहर सर्वजन – सुलभ, “**श्रीभागवत–परिवार**”(दुबाई) द्वारा कर दी है । तदर्थ हार्दिक मंगलाशीर्वाद पुत्रीकल्प चि. सौ. मञ्जुको ! यह “श्रीभागवत–परिवार” में सोत्साह–सन्निष्ठापूर्वक संमिलित सौ. **गीताबहन पारपीआ**, – **आदि सब वैष्णववृन्दको** भी सस्नेह मंगलाशीर्वाद ! सबको प्रभुकृपासे इसके सेवनसे अन्तर्निष्ठा एवं उष्णभाव सुलभ हो, यही मंगलकामना ! भगवत्कृपासे ही आगे भी अनेक ग्रन्थ–प्रकाशन–मनोरथ है ।

यह ग्रंथके भाषा–शोधनमें सहृदय **मु. श्रीवैकुंठलालजी भगत**(निवृत्ताचार्य, भरुच) एवं भद्र **सौ. ज्योतिबहन शास्त्रीने** (M. A.) ने परिश्रम–पूर्वक सेवा–सहयोग दिया है, साशीर्वाद धन्यवाद ! ग्रंथ–मुद्रणादिमें प्रुफ–शोधन सेवा सहयोग संनिष्ठ **चि. कु. दर्शना जगदीशचन्द्र कापडीआ** (B. Com.) तथा भद्रहृदय **चि. सौ.** लता जयेशभाई परीख (B. A.) ने दीया है । सधन्यवाद–मंगलाशीर्वाद ! ग्रंथमुद्रणादिकार्यमें सुयोग्य सहयोगके लिये सुजन **श्रीयोगिनभाई परीख** एवं **श्रीविजयभाई शाह** को भी हार्दिक धन्यवाद !

अन्य सेवा–सहयोगीओंको भी सस्नेह भगवत्स्मरण !

“**श्रीभागवत–परिवार**” (दुबाई) को यह भद्र–भगवत्कार्यार्थ मंगलाशीर्वाद ! अधिक उत्साह एवं सन्निष्ठा के लिये मंगलकामना !

“**विद्यानिधि**”–**ट्रस्ट** तो ऐसे भगवत्कार्य – सेवार्थ – समुत्सुक है ही । प्रभु – महाप्रभु – प्रभुभक्तोंकी प्रसन्नता हो, यही मंगलाभिलाष हैं । इन सबको सस्नेह वन्दन ! यथामति निरूपणमें उत्तमता तो उत्तम–प्रदाताओंकी ही हैं , दोष हो तो मेरे अल्पज्ञ जीवके हैं । ऐसे उत्तम महाजनोंको, पू. श्रीमदाचार्य – कुलको, सादर वन्दन ! कुछ अयुक्त लगे तो उचित सूचित करने के लिये वत्सल विदग्धवृन्दको विनति !

प्रभु – प्रभुजन – प्रसन्नता चाहता, शीघ्रतामें, विरमता हूं ।

वि. सं. २०५२
फाल्गुन–शुक्ल–११–शुक्र
ता. १/३/'९६
“कुञ्ज–एकादशी”
“**ब्रजविहार**”
मोटीपोळ, मोदी सांथ,
नडीआद : ३८७ ००१
दूरध्वनि : ५०९०८

लि. प्रभु–प्रभुजन–प्रसन्नता–प्रेप्सु,
नवनीतप्रिय शास्त्री के
प्रभुवंदन, सस्नेह भगवत्स्मरण ।

"श्रीहरिः"

"हृदय-वार्ता"

भागवतरत्न, भागवतभूषण, पुष्टिपथमर्मज्ञ,
परम भगवदीय, वात्सल्य बरसाने वाले,
"प. पू. मेरे पिताश्री"

"हों वारी इन वल्लभीयन पर माला तिलक
मनोहर बानो त्रिभुवन के उजियारे ।"

ऐसे ही श्रीवल्लभ के प्यारे, त्रिभुवन के उजियारे, निजजन **'मेरे पिताश्री'**, **'मेरे गुरूजी'** को में तो केवल नमन ही कर सकती हूं ।

ऐसे वल्लभीयन की कृपा जब प्रभु चाहते हैं तो किसी भी जीव पर करा देते हैं । यह प्रभु की कपा, वल्लभीयन की कृपा तो वास्तव में **"विचित्र"** ही है ।

भाग्य से भी सुलभ नही है-भगवान्, भक्ति, कृपा, ज्ञानादि । सब कुछ भगवदिच्छा पर ही निर्भर है, आधारित है । भाग्य भोग को भी बदल देती है – **"कृपा"** । काल, कर्म और स्वभाव का कोई प्रभाव कृपामें नही होता है, । कारण – निरपेक्ष होती है – कृपा ! कृपा विचित्र भी होती है । कृपा से ही लौकिक-अलौकिक सब कुछ सिद्ध हो जाता है, यत्नसे नही । प्रभु के 'निजजन' जब कृपा करते हैं तब पात्रता भी अपने आप में सिद्ध हो जाती है, जीव में कुछ न होने पर भी प्रत्युत दोष-समुद्र उमडते होने पर भी ।

"कृपा किस (मग) मार्गसे पधारती है, वह किसी को क्या मालूम ?"

अद्भुत कृपा से आप जैसे भगवदीय, वल्लभीयन का मिलना-आपका ही चाहना- आपकी ही निष्ठा, विश्वास, प्रेम – सब कुछ तो इन भगवद् भक्तो का ही ! बस केवल चाहा, यह जीव 'मेरा है, अपना है, तो अपना बना लिया,- **'मेरी बेटी'** हो गई । माना जो 'मेरा है' उसे वह भगवदीय क्या नहीं देंगे ? अपना सर्वस्व ही तो देते हैं ।

१) **स्नेह** – जिस का हर समय, हर क्षण, अनुभव करते ही हैं ।

२) **सेवा** – (तदर्थ भगवत्स्वरूप) अपने निजजनों के कहने से तो भगवान् को भी पधारना पडता है । आज घरमें **'मेरे प्रभु'** श्रीवल्लभ और आपही की कृपासे बिराजते हैं ।

३) **कथा** – (सत्संग, श्रीमद्भागवतजी)

अपने बच्चे के दोषो को न देख कर, आपकी यह कृपा की बरसात मेरे जीवन में तो हर समय, हर क्षण, बरसती ही रहती है । मेरा प्रमाद, आलस्य होने पर भी आपका प्रेम तो सदैव बरसता ही रहता हैं । अैसा ही प्रेम मुझे "मेरी मईया" से भी मिलता रहता है । हर समय नडियाद आने का विशेष आग्रह और वहाँ जाने पर आप दोनों का, जिसका वर्णन न किया जा सके ऐसा, ढेर सारा प्यार, अनुग्रह ! आपका स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी अपनी बेटी के लिये और भगवदीय एवं भगवत्कार्यार्थ तो सदैव, सब कुछ करने के लिये, हमेशां तैयार ही हैं । आपका यह प्रेम और वात्सल्य आपने कृपा करके पूरे परिवार एवं श्रीभागवत-परिवार पर भी बरसाया हैं । छोटे से छोटे

बच्चे भी आपको देख कर ही, आपकी आवाज सुन कर, प्रसन्न हो जाते है, उन्हें भी आपसे जीवन की सच्ची राह ही मिली है, सिर्फ मुझे ही नही । मैने देखा, स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी, आप हर समय अनेक जीवों को सच्ची राह दिखाने के लिये तैयार ही रहते हैं । श्रीमहाप्रभुजी का सच्चा मार्ग, उस पर चलने के लिये जीवन का सही व्यवहार, –सेवा, –कथा, दिखाने के लिये न तो आपको आपके आराम की परवाह है, न समय की । हरि, गुरु, वैष्णव की सेवामें सदैव तत्पर ! "**श्रीमहाप्रभुजी**" के ग्रंथ और पंथ श्रीमहाप्रभुजी के जीव समझ सके उसके लिये आपकी उत्कट अभिलाषा, उसके लिये आपका अथक परिश्रम ! शब्दो से तो मैं इसका वर्णन नहीं ही कर सकती हूँ, असमर्थ ही हूँ । अपनी बेटी को इसी कृपा से, प्रेम से, आपने पत्रो में भी "**श्रीगुसांईजी**" की "**विज्ञप्ति**" लिखी हैं । स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी, समय न होने पर भी, आपने हर समय रात्रि में भी एक बजे दो बजे तक भी, श्रमित होकर भी यह कृपा की हैं । यही कहूंगी,–

"मोहे भरोसो दोऊ ठौर को, इक हरिभक्तन को दूजो नंदकिशोर को "

ऐसे वल्लभीयन, भगवदीय, '**मेरे पिताश्री**', '**मेरे गुरुजी**' जिन्होने अपनी ही कृपा से, अपना बना लिया । भाग्यहीनों के भी भाग्यरूप हो जाते हैं – '**भगवदीय जन**' । मैं तो केवल '**मेरे पिताश्री**', '**मेरे गुरुजी**' को नमन और 'दंडवत्–प्रणाम' ही कर सकती हू । बस केवल यह ही कहना चाहूंगी,–

"गुरु गोविंद दोऊ खडे काको लागूं पाय ।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दियो मिलाय" ॥

मुझको मिली हुई यह वात्सल्य कृपा–वर्षाका लाभ सर्वजन – सुलभ हो, अतः "**श्रीभागवत–परिवार**" (दुबाई) की सुजनता द्वारा मुद्रित–रूपमें उपलब्ध होती है । सबको मंगलकामना, सस्नेह भगवत्स्मरण ।

आपकी बेटी
(मंजु काराणी) के
सदैन्य दण्डवत् प्रणाम ।

श्रीहरिः

“कृपालाभ”

पूज्य गुरुजी,

सादर–सस्नेह–दंडवत् – प्रणाम निवेदन।

बर्षोसे अंतःकरणका आर्तनाद था, प्रभुको ‘ज्यों के त्यों’ (यथार्थ) समजने का ! **यथार्थ** ?!

समाज के लिए, स्वजनो के लिए, जीनेका प्रयत्न ! कहीं भी शान्ति नहीं – मार्गको जानने–समझने के – प्रयत्नोमें दूसरे मार्ग पर गुमराह होना !– **मार्ग** ?!

श्रीमहाप्रभुजीने कुछ अलग ही चाहा था । भगवदिच्छासे उदार अनुग्रह हुआ, आप द्वारा। प्रभुसंबधसे आपकी आत्मीयता अंतःकरणको छू गयी । दुबाई जैसे रेगिस्तानमें भी भक्ति–कमल खिल उठे आप द्वारा ! सृष्टिमें सर्जित प्राणी मात्रको दुर्लभ शान्तिको आपने सुलभ बनाई – “**सुलभशान्ति**” द्वारा ! मंगलमय मंगल प्रभुके मंगल संदेशका स्वान्तःस्पर्श कराके, जीवनध्येयकी ओर अंगुलीनिर्देश कराके, जीवनलाभ प्रदान किया, – यथा नाम तथा गुण !

बर्षोसे ‘**श्रीमद्–भागवत–रसास्वाद**’ घरमें विराजता था, कुछ समजमें आता नहीं, पढनेके प्रयत्नसे विकलता बढ जाती, प्रभुको आतुरतासे विनंती करती ! अचानक आप मिले ! आपकी आंखोसे–वाणीसे – बहती करुणा आत्मीयता अंतःस्पर्शी हो गयी ! याद हैं वह १९९४ जुलाई की एक शाम, हमारे स्नेहाग्रहसे, दुबाईवालोंको आपके व्यस्त कार्यक्रमसे ४० दिन देनेका वायदा किया – और वह लाभ–पांचम भी आ पहुँची दुबाईमें। मंगलमय प्रभुको समजनेका सुमंगल प्रारंभ हो गया ! सिद्धान्तोंके श्रवण–दर्शन–सेवन स्थिरता देने लगे,–अब सरलता दिखने लगी ! पर ज्यों ही ४० दिनके कार्यक्रमकी समाप्ति नजदीक आती गई, फिर वही विकलता ! क्या होगा ?! भय ! समज हो ना हो – अनुभव हो ना हो ! मंगल हितार्थ–मंगलारंभ हो चुका था । मंगलमय प्रभुके लिये आपने “**श्रीभागवत–परिवार**” साकार किया !

आप द्वारा जो अलभ्य लाभ हमको मिल रहा है– वह भक्तिसिद्धांत–सेवन सब सुजन–स्वजन–प्रभुजन कर सकें। प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही जीवन बीतानेका मार्ग बताया, सुदुर्लभ फिर भी कृपासे मिली हुइ आपकी छत्रछाया हमेशां “**श्रीमद् भागवत–परिवार**” पर छाई रहे – यही नम्र निवेदन।

“**श्रीमद्–भागवत–रसास्वाद**” का आस्वाद करा दिया आपने – स्वाद की शुरुआत ही हुई थी की आप द्वारा एक और अनुग्रह हुआ –“**पुष्टि–पुलिन**” ! शास्त्र–आचार–स्तोत्र–सेवाका समन्वय ‼ श्रीमहाप्रभुजीके एक ही वाक्य “**शास्त्रमवगत्यमनोवाग्–देःहैः कृष्णः सेव्यः।**”– को लेकर एक अद्भुत ग्रंथ ! परंतु अब आश्चर्य नहीं हो रहा ! हाँ आपसे यही तो अभिलषित हैं । पुनः अंतःकरणके उत्कट अभिलाषको अभिव्यक्त करके नम्र दंडवत् प्रणाम करती कृपा चाहती हूँ।

उदारता है,– आत्मीयता है,– बहन सौ. मंजुकी, कि अपनी ही धरोहर “**विज्ञप्ति**” – पत्र उसने सर्वजनलाभ के लिये “**श्रीभागवत–परिवार**” (दुबाइ) द्वारा प्रकाशनार्थ सरल–स्वकीयता से सुलभ कर दी ! हार्दिक धन्यवाद ! सोत्कण्ठ भगवत्स्मरण।

“**श्रीभागवत परिवार**” दुबाई की ओर से
गीता पारपीआ के
सा. दं. प्रणाम–सदैन्य भगवत्स्मरण।

श्रीहरिः

प्रातः–स्मरणम्

(धर्म – अर्थ – काम – मोक्ष – भक्ति, ये सर्व पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी गुसांईजीका प्रातःस्मरण करना । वितर्क – अज्ञान – अपराध – संसार – संताप – शोकको वह शांत कर देता है और प्रभु प्रसन्नताका संपादन करता है । जैसी परम भक्ति भगवानमें ऐसी गुरु में हो तो सकल शास्त्ररहस्य स्वतः स्फुरतें हैं । श्रीमहाप्रभुजी – श्रीगुसांईजी पिता–पुत्ररूप ही नहीं हैं । स्वयं अेकरूप भगवद्रूप हैं ।)

(वसंत–तिलक–छंद)

मूलश्लोक :

प्रातः स्मरेद् भगवतो वरविट्ठलस्य
पादारविंद – युगलं सकलार्थ – सिद्धयै
यो वै वितर्क – तमसा पिहितस्य भक्ते
प्रीतः प्रकाशमकरोदिव तिग्मरश्मिः ॥१॥

भावार्थ :

सकल अभीष्ट पदार्थ (धर्म – अर्थ – काम – (मुक्ति – भक्ति – भगवान् – रूप पुरुषार्थों) की सिद्धि के लिये षडगुणसंपन्न, (श्रीमहाप्रभुजी को दिये हुअे वचनसे पुत्ररूपसे अवतरित) भगवान् श्रीविट्ठलनाथजी हैं । (जो ज्ञानी – अज्ञानीको अनुग्रहसे कृतार्थ करते हैं । यह श्रीविट्ठलनाथजी के चरणकमलको प्रातःकालमें दिनचर्याके आरंभमें) भक्त स्नेह और दीनतापूर्वक

स्मरें । स्वभक्त पर प्रसन्न हुअे जिन्होंने, सूर्यकी तरह, निश्चितरूपसे, विपरीत तर्करूप अंधकारसे ढका हुआ वस्तुतत्त्व (जगत्–जीव–ब्रह्म–लीला–पुष्टिभक्ति) का प्रकाश किया ।

मूलश्लोक :

प्रातः स्मरेन्नमन – निर्वृतिदं मुरारे :
पूर्णावतार – वर – विट्ठलपाद – पद्मम् ।
माया–विकृत्य–गहनं गत – बंधु – लोके
यो वै स्वमार्गमनयत् कृपया प्रपन्नम् ॥२॥

भावार्थ :

नमन करनेसे सुख – शांति देनेवाले, (भक्तो के प्रतिबंधको स्वेच्छासे दूर करनेवाले) मुरारि श्रीकृष्णके पूर्णावताररूप, सर्वश्रेष्ठ, श्रीविट्ठलवरके चरणकमलको प्रातःकालमें(स्वजन) स्मरें; जिन्होंने निश्चतरूपसे बंधुरहित (निः–सहाय) लोकमें अपने शरणागत जीवोंको व्यामोहिका माया के विकारोंसे अगम्य अपने (पुष्टि–भक्ति) मार्ग में पहूँचाये ।

मूलश्लोक :

प्रातर्भजेदमल – मूर्तिमनंत – शक्तेः
श्रीविट्ठलस्य जन–ताप – हरस्य नित्यम् ।
यो वै जनस्य शतजन्म – कृतापराधं
पादानतस्य कृपयापनुनोद सत्यम् ॥३॥

भावार्थ :

अनंत शक्तियोंवाले, स्वजनों के संताप को हरनेवाले, श्रीविट्ठलनाथजी श्रीगुसांईजीके निर्दोष

स्वरूपको प्रातःकालमें (दीनतापूर्वक स्वजन) भजें । जिन्होंने सचमुच अपने चरणमें नमन करते हुअे स्वजनके सेंकरन जन्म में किये हुअे अपराध को अपनी कृपासे सचमुच दूर कर दिये हैं ।

मूलश्लोक :

प्रतर्नता भजत भक्तजनाः सशिष्याः
नारायणं नरवरं द्विज – विट्ठलेशम् ।
धर्मार्थ – काम – भव – मोक्षदमंहसोऽरिं
संसार – दुःख – शमनं गुरुमादिदेवम् ॥४॥

भावार्थ :

हे भक्तजन ! आपके शिष्यवृंद के सहित आप नारायण–स्वरूप, नरश्रेष्ठ, धर्म – अर्थ –काम – संसारमेंसे मोक्ष – प्रदान करनेवाले, स्वजनों के दोष के शत्रुरूप, स्वजनों के संसारके दुःखों के शमनरूप, आदिदेव, (श्रीकृष्ण)रूप, द्विजरूपसे बिराजतें हुअे श्रीविट्ठलनाथजी श्रीगुसांईजीको प्रातःकालमें दीनतापूर्वक भजें ।

मूलश्लोक :

प्रातर्जना गदत नाम नरोत्तमस्य
श्रीविट्ठलस्य हरि–वल्लभ – वल्लभस्य ।
इष्टार्थदं सुख – करं मति – मानदं च
सर्वाघ – शोक – शमनं गदतो नरस्य ॥५॥

भावार्थ :

हे भगवदीयजन ! श्रीहरिके प्रियतम (श्रीवल्लभाचार्यजी)के अंत्यत प्रियपुत्र पुरुणोत्तम

श्रीविट्ठलनाथजी का, अभीष्ट पुरुणार्थ देनेवाला, सुखप्रद, मति और मान देनेवाला; और स्पष्टरूपसे उच्चार करनेवाले नरके सर्वपाप – शोकके शमनरूप, (लीला विशिष्ट–स्वरूप–ज्ञापक) नाम प्रातःकालमें (निर्भयतासे) उच्चारें ।

मूलश्लोक :

यः श्लोक – पंचकमिदं सततं पठेच्चेत्
स स्यात्सुखी सुविणयी विदुणां वरिष्ठः ।
देवदपदेव – गण – भीति – हरं च हारं
सर्वावतार – शमनं हरि – तोणणं च ॥६॥

भावार्थ :

जो पुष्टिभक्त, देव एवं उपदेवों के समूह के भयको हरनेवाले और मनोहर, सर्वजन्मके संतापके शमनरूप और श्रीहरिको संतुष्ट करनेवाले, इन पांच श्लोकोका सतत पाठ करता है; वह सुखी – सुविषयी (भगवत्संबंधी सुन्दर विषयसेवन करनेवाला) विद्वानोंमें श्रेष्ठ – होता है ।

॥ इति श्रीहरिरायजी–विरचितं प्रातःस्मरणं संपूर्णम् ॥

सिद्धान्त-संग्रह

१ वेदादि-शास्त्र-प्रतिपादित सर्वोत्कृष्ट निर्दोष परमतत्त्व आनंदमय रसरूप श्रीकृष्ण ही हैं । वह श्रीमद्भागवत में संपूर्ण क्रियाज्ञान-शक्ति-युक्त "स्वयं भगवान्" है । वह आधि दैविक रूप है ।

२. परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका धाम अक्षरब्रह्म है । अक्षरब्रह्म स्वल्प तिरोहितानंद जैसा गणितानंद है । वह आध्यात्मिक रूप है ।

३. सच्चिदानन्दरूप श्रीकृष्णकी शक्ति माया है । माया भगवानका सर्वभवन – सामर्थ्य है, दासी भी है ।

४. जीव अक्षरब्रह्मका अंश है, अणु है, स्वतः व्यापक नहीं है ।

५ अंशी भगवान श्रीकृष्णकी सेवा ही अंशरूप जीवका स्वधर्म है । ओर कभी भी नहीं, कहीं पर भी नहीं । यह सेवा अपने घरमें, अपने तन – धन और मनसे होती है । चित्त का प्रभुमें प्रवण हो वह सेवा है । जीव प्रभुका दास है ।

६. जगत् सत्य है, ब्रह्मका आधिदैविक स्वरूप है ।

७. जगत्-जीव-अन्तर्यामी-अक्षरब्रह्म वगैरहका अभिन्न-निमित्तो पादान – कारण शुद्ध निर्गुण ब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही है । भगवान् में देह – देही – विभाग (भिन्नता) नहीं है, उनके हाथ – पैर आदि अवयव प्राकृत नहीं है, आनंदमय है, अपाकृत है, भगवद्रूप है । शुद्ध साकार ब्रह्म सर्व व्यापक है ।

८. जीव का अविद्यासे कल्पित अहंता – ममतारूप संसार मिथ्या है ।

९. श्रीकृष्णकी शरणागति और आत्मनिवेदन द्वारा यथाशक्य वर्णाश्रम-धर्म पूर्वक सेवासे ही सफलता है ।

१०. प्रयत्नपूर्वक श्रीमद् भागवतका सेवन नित्य करना चाहिये ।

श्रीहरिः

"॥ सा विद्या तन्मतिर्यया ॥"

"विद्यानिधि ट्रस्ट" द्वारा प्रकाशित इस अनुभावक के अन्य ग्रन्थ

	ग्रंथ के नाम	न्योछावर (टपालखर्च अलग) रु.
१.	श्रीमद्-भागवत-रसास्वाद (तृतीयावृत्ति)	२००–००
२.	सुमंगल-नवनीत-संचय	–
३.	सुलभ – शान्ति (गुजराती)	२–००
४.	कराल कलिकाल में कल्याण	१–००
५.	त्रिविध – नामावली	२–५०
६.	दुःख-दयाका दान	१–५०
७.	सुलभ-शान्ति (पुरानी) (हिन्दी)	२–००
८.	सुलभ-शान्ति (नयी) (हिन्दी)	२०–००
९.	जीवन-मंगल	२–००
१०.	श्रीपुरुषोत्तम – नाम – सहस्र-स्तोत्र (पुरानी आवृत्ति)	४–००
११.	श्रीपुरुषोत्तम – नाम – सहस्र – स्तोत्र (नई आवृत्ति)	२५–००
१२.	पत्र-परिमल	८–००
१३.	व्रज – विहार	२५–००
१४.	श्रीमद् – भागवत – प्रथम दृष्टिमें (हिन्दी)	–
१५.	श्रीमद् – भागवतमें अद्भुत – विज्ञान-विहार (संस्कृत – गुजराती – अंग्रेजी)	१००–००
१६.	गीता – गुंजन (हिन्दी)	७०–००
१७.	पुष्टि – पुलिन	२००–००
१८.	कुर्यात् सदा मंङ्गलम्	२०–००

होनेवाले प्रकाशन : (१) सरल श्रीभागवत, (२) श्रीभागवत (श्रीमहाप्रभुजी – समंत पाठभेद – युक्त), (३) श्रीमद् – भागवतान्वयार्थ; दूसरे अनेक

अन्यत्रसे प्रकाशित : (१) श्री स्वामिन्यष्टकम्, (२) गुप्तरस, (३) श्रीमद् – भागवत – प्रथम नजरे, (४) पुष्टि – मार्ग, (५) पुष्टि – मंगल (६) द्विज – दिव्यता, (७) संग्रह – कुंज

: विज्ञप्ति :

हृदय–संस्पर्श–ऊर्मि–माला

(अनुक्रमणिका)

* प्रकाशन प्रसंग.................................३

* हृदय–वार्ता.................................१२

* कपालाभ.................................१६

* प्रातःस्मरणम्.................................१८

* सिद्धान्त – संग्रह.................................२२

१ पूर्व–लीलाकथा : विप्रयोग – प्रसंग – बीज :.................२९

२ भूतल – लीला – कथा : विप्रयोग–प्रसंग–अंकुर :.........३३

३ विप्रयोग–प्रसंग–पौधा–वृक्ष–पल्लव–पुष्प–फल :.................३९

४ पुनः संयोग – प्रसंग : श्रीगुसांईजीके हृदयकी विशालता :.................................४१

५ शुद्ध हृदयमें ही भगवदावेश : वरणसे प्रभुप्राप्ति :.........४४

६ भगवत्स्मृतिसे हृदय पीघले तब वैष्णवता है : भगवदर्थ हृदयका उमडना और न उमडना :.................४७

७ कृष्णभक्तिसे ही पवित्रता :.................................४९

८ भगवदर्थ रुदनसे पवित्रता :.................................५१

९ रोमांच ही यथार्थ चिह्न है, – भक्तिका :.................................५१

१० सात्त्विकताके आठ चिह्न :.................................५२

११ सात्त्विकतासे अधिक है, – कृष्णनिष्ठा ! :.................................५३

१२ भक्ति भगवानको प्राणाधिक प्रिय है; भक्तिसे भगवान् वश होते हैं :.................................५४

१३ बुढापेमें भक्तिका गुजरातमें वास : कृष्णभक्तके लिये ज्ञान – वैराग्यकी प्रायः गौणताः.................................५५

१४ यौवन–प्राप्त ज्ञान–वैराग्यके साथ युवती भक्तिका वैष्णव मनमें निवासः.................................५६

१५ पुष्टि–भक्ति और मर्यादा–भक्तिका स्वरूप – विचार :.................................५७

१६ (१) वैराग्य पूर्वक प्रवृत्त भक्ति : भगवानको वश करनेवाली बलरूपा भक्ति :.................................५७

१७ (२) भगवानका यथार्थ–ज्ञान करानेवाली भक्ति :.................५७

१८ (३) प्रभु – प्रदानरूपा भक्ति :.................................५८

१९ (४) शोक – मोह – भय दूर करनेवाली भक्ति :.............५९

२० (५) भगवानमें स्वाभाविकी वृत्तिरूपा भक्ति :.................५९

२१ (६) माहात्म्य – ज्ञान – पूर्विका भक्ति :.................................६४

२२ (७) ईश्वरमें परानुरक्तिरूपा भक्ति :.................................६५

२३ (८) प्रकट प्रभुमें परम प्रेमरूपा भक्ति :.................................६५

२४ (९) प्रेम – पूर्विका सेवारूपा भक्ति :.................................६७

२५ (१०) भगवानके भागमें रहना – भक्ति :.................................६७

२६ (११) स्वगौणता – रूपा भक्ति :.................................६७

२७ (१२) भगवान् जिसका फल है, वह भक्ति :.................................६८

२८ (१३) शास्त्रमें भक्तिके विविध – निरूपण :.................................६८

२९ (१४) नवधा भक्तिमें कर्म – ज्ञान – उपासंना – भक्ति–मार्गीय – प्रकार :.................................६९

३० (१५) प्रवाह–मर्यादा–पुष्टि – (मार्गीय) – भक्ति :............७०

३१ भक्तिवालोंके उपदेशानुसार भक्ति – प्रवृत्ति :.................७०

३२ भगवान् और जीवका परस्परका प्रेम है,– पुष्टिभक्ति ! :.................................७२

३३ भगवानके विचारानुसार ही जीवका मार्ग एवं फल – व्यवस्था :.................................७२

३४ पुष्टिभक्तकी दोषनिवृत्ति हृदयस्थ भगवान् स्वयं कर देते हैं :.................................७३

३५ सच्चिदानन्दरूपका रूपनाम – विभेदसे जगद्रूपमें क्रीडन : भगवदंशका जीवरूप होना :.................................७४

३६ प्रवाह – मर्यादा – पुष्टि – सृष्टि :.................................७६

३७ पुष्टि सृष्टिके चार प्रकार : बीजभाव :.................................७७

३८ पुष्टिभक्तका फल – प्रकट भगवान् ! : आनन्दमय शृंगाररसरूप श्रीकृष्णका संयोग–वियोगका अनुभव :........ ७८
३९ श्रीगुसांईजीको संयोग – वियोगानुभव – लीला :........ ७९
४० विप्रयोगमें विज्ञप्ति :........ ८०
४१ यह "विज्ञप्ति"– विशेषता :........ ८१
४२ अनन्य रसभोक्ता भ्रमरको ही मकरन्द – लाभ :........ ८५
४३ अनन्य – अंतःकरण – संबंधसे प्रत्यक्ष प्रभु :........ ८६
४४ भगवद्रूप–सेवार्थ ही पुष्टिसृष्टि : सेवार्थ ही दर्शन : हृदयके दोष पकने पर ही भगवद्दर्शन :........ ८७
४५ सृष्टिके व्यवधानसे आधुनिक जीव भगवानको नहीं जानता है :........ ८९
४६ अक्षर–ब्रह्मांशका जीवभाव :........ ८९
४७ जन्तु – मनुष्य – मुमुक्ष – सिद्ध – भक्त – (नारायण–परायण) जीव :........ ९१
४८ अपूर्ण जीव :........ ९३
४९ पूर्ण भगवानकी महिमाका सूचन–मात्र :........ ९४
५० भक्त–भोगार्थ प्रकट पुष्टि प्रभु :........ ९५
५१ संयोग – सुखवालोंको ही वियोगदुःख होता है :........ ९६
५२ पुष्टिभक्ति – मुखाम्बुज की भक्ति :........ ९६
५३ श्रीगोपीजन – वल्लभ – रस :........ ९७
५४ आस्याम्बुज – रसकी कामना :........ ९९
५५ प्रभुके हृदयमें पधारने के दो मार्ग, – कर्णमार्ग और नेत्रमार्ग : पुष्टिमें बाह्यानुभवकी मुख्यता :........ १०१
५६ स्वदोष स्फुर्ति में भी व्रजभक्त में विश्वास :........ १०२
५७ लीलापक्ष – विचार :........ १०४
५८ जीवपक्ष – विचार : ब्रह्मसंबंधसे ही जीवकी निर्दोषता – भगवदीयता :........ १०५
५९ प्रभुप्रिय भक्त द्वारा भी निर्दोषता–भगवदीयता :........ १०६
६० मधुरभावकी मुख्यता :........ १०९

६१ स्वप्रियजनों की रक्षा भगवान् करते हैं :........ ११०
६२ भगवदिच्छासे ही जीवका अधिकार : प्रवाह – मर्यादा पृष्टि – जीवसृष्टि :........ ११२
६३ पुष्टिमार्गीय की विशेषता :........ ११३
६४ पुष्टिभक्तको आरंभसे ही फलरूप भगवान् मिलतें हैं, निकटमें प्रकट बिराजतें है – भक्तके घरमें खेलतें हैं :........ ११५
६५ श्रीगुसांईजीका भगवत्सेवार्थ देहधारण :........ ११६
६६ भगवानको कुछ कहना नहीं, सब सहन करना और संमुख रहना :........ ११७
६७ स्नेहमें स्वदोष – दर्शन :........ ११९
६८ प्रगाढ प्रेमका प्रभाव – स्वभाव :........ १२१
६९ लीलानुरूप कृपा :........ १२२
७० मोह सदोष होता है, प्रेम निर्दोष ही होता है :........ १२३
७१ भक्तरक्षामें रत भगवान् :........ १२५
७२ स्वभावसे विरुद्ध भी भगवानकी लीला : करुणा है – निर्दोष कृष्ण की :........ १२७
७३ प्रेममें प्रियजनका कष्ट असह्य लगता है : भक्तका क्लेश भगवानको असह्य लगता है :........ १२९
७४ कर्मफल भी भगवान् देतें हैं : स्नेह की विचित्रता :........ १३१
७५ भक्तको भगवानकी ही आशा होती है :........ १३३
७६ विरुद्धधर्माश्रयी कृपा :........ १३४
७७ अगाध कृपा : बाह्य प्राकट्यसे ईश्वरवाद :........ १३४
७८ कृपा तो कृष्णका स्वभाव है और भक्तका विश्वास है :........ १३६
७९ भक्तकी स्वाभाविकता है, – दोषका स्वीकार :........ १३९
८० दोष दुर्बल हैं, दासत्व प्रबल है :........ १४०
८१ स्वामि – सेवक – संबंध : प्रभु तो भक्तों के नाथ हैं :........ १४०
८२ स्नेहवाला – भक्त; अंगीकृत – भगवदीय :........ १४२

८३ मर्यादाका उल्लंघन पुष्टि है, मर्यादा तोडना आसुर है : १४४
८४ प्रभु शास्त्रकक्षासे पर : पशु शास्त्रकक्षासे नीचे : दासधर्म – इसमें मर्यादा और पुष्टि :....................१४५
८५ निःसाधन – स्वजनोंके साधन – फल –रूप हैं,– श्रीगोकुलप्राणनाथ ! :....................१४७
८६ स्वजनोंको निर्दोष बनाते हैं,–भगवान् ! :....................१४८
८७ पुष्टिभक्तको भगवान्से कुछ कहना नहीं होता है :..........१५०
८८ प्रेम पताका श्रीगोपीजनकी चरणरजः से अभयलाभ :......१५२
८९ हृदयमें प्रणयकी पीडा :....................१५५
९० रूपके संबंधवाले नामसे शीघ्र कृतार्थता :....................१५७
९१ सतत भगवन्नाम – रटण जरूरी है :....................१५९
९२ अभिमानीओंको अलौकिक भगवन्नाम देनेका अधिकार नहीं है :....................१५९
९३ प्रमेय – बलसे अधिकार :....................१६१
९४ वरणरूप भगवद – विचार से जीवका अधिकार :........१६३
९५ कृपैकलभ्य – परम फल है,– श्रीराधिकाजीका चरणदास्य :....................१६५
९६ भगवान् और भक्तका परस्पर मेरापन पुष्टि–भक्ति है :....................१६८
९७ त्रिविधि दीनता : पुष्टि–दीनतासे प्रभुप्रसन्नता :............१७०
९८ भगवान् और भक्तकी परस्परमें अधीरता :....................१७१
९९ भगवान्की अंगीकृति नित्य है :....................१७३
१०० जीवकी ओर नहीं अपनी ओर देखके प्रभु कृपा करें :....................१७४
१०१ पालनीयकी उपेक्षा प्रभुको अनुचित है :....................१७६

श्रीहरिः

प्रभुचरण श्रीगुसांईजी–कृत

: विज्ञप्ति :

"हृदय–संस्पर्श"

भावार्थ–"मञ्जुश्री"

विप्रयोग – प्रसङ्गाद्धि परस्पर–व्यथा – कथाः।
शब्दाः हृदय – संस्पर्शाद्विज्ञप्तौ विद्ठलैर्वृताः ॥१॥

नौमि श्रीवल्लभाचार्यान् विद्ठलेशान् मुहुर्मुहुः।
कालिन्दीं व्रजलीलास्थान् श्रीगोपीजनवल्लभम् ॥२॥

यत्कृपातो जनः कोऽपि लीलाक्षीराब्धि–सेवनम्।
लभते पुष्टिमार्गस्थः स्नेहादिभावसंततिम् ॥३॥

विप्रयोग–प्रसंगसे ही परस्पर व्यथाकी यह कथाएं है । हृदय–संस्पर्श से "विज्ञप्ति" में शब्द श्रीविट्ठलनाथजी गुसांईजीने चुने हैं ।

श्रीवल्लभाचार्यजी – श्रीविट्ठलनाथजी–श्रीयमुनाजी – श्रीव्रजलीलास्थ भक्तजन–श्रीगोपीजनवल्लभ (श्रीकृष्ण) को मैं बारबार नमन करता हूँ ।

जिनकी कृपासे पुष्टिमार्गस्थ कोई भी जन लीला – क्षीरसागर का सेवन एवं स्नेहादि भावविस्तार (आसक्ति–व्यसन–फल) को – प्राप्त होता है ।

पूर्व–लीलाकथा : विप्रयोग–प्रसंग–बीज :

अद्भुतकर्मा है, – भगवान् श्रीकृष्ण ! असाधनको साधन बना दें, यह अद्भुतता है । अनुग्रह तो उत्तम

बनाता है, कृतार्थ कर देता है, फिर भी प्रभु कभी अनुग्रह के लिये शाप भी दिलवाते हैं ! कभी अनुग्रहसे अगणित आपत्तियाँ भी बरसा देते हैं । अनुग्रहसे ऐसे दिलाए हुए शाप भी भगवन्मार्ग–स्थापनमें निमित्त हो जाते हैं । भक्तका तो इसमें हित ही होता है । इस लिये अद्भुतकर्मा श्रीकृष्ण अक्लिष्टकर्मा भी है । कैसे करके भी, कैसे भी जीवको वे अपना बना देते हैं । भगवानकी इच्छासे होता है, – जीवका, वरण, तदनुसार होता है, –भगवानका अनुग्रह । मनका वलण–(स्वाभाविक वृत्तियाँ) तदनुरूप ही होता है । इच्छा एवं अनुग्रहमें कोइ ओर कारण–नियामक होते नहीं हैं । सर्वतंत्र – स्वतंत्र हैं,– भगवानकी इच्छा–भगवानकी कृपा ! कृपा किसके लिये, कौनसे मार्गसे पधारेगी यह कहना वा जानना शक्य नहीं है । भगवदिच्छा भी भगवानकी स्वरूपभूत शक्ति है, जो सर्वत्र अप्रतिहत है । इच्छा भी सर्वभवन–समर्थ स्वरूप ही है, जो धर्मरूपसे होते हुए इच्छारूपसे भी होता है ।

अद्भुत–अक्लिष्ट–कर्मा भगवान् कृष्णकी लीलाका ऐसे अनुग्रहसे शाप और शापसे भगवन्मार्ग स्थापनका दिव्य–प्रसंग है । एक समय भगवानने श्रीललिताजीको बचन दिया, – “मै आपकी निकुञ्जमें पधारुंगा ।” श्रीचन्द्रावलीजीने यह बात कैसे भी जान ली । बहुत चतुराईसे सेवा–मनोरथादिसे छ मास तक प्रभुको रोक लिये ! श्रीललिताजीके पास जानेमें विलंब कर दिया । लीलामें ईर्ष्या – मानादि दिखाई देतें हैं । “ **लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्** ।” – ब्र.सू.(२–१–३३) हैं न ! लीलामें

लोकवत् मनोभाव होते हैं, परंतु वे बंधनरूप–प्राकृतिक – नहीं होते हैं, लीलाहेतुक आनन्दमय ही होते हैं, आनन्दमयी लीला ही इनसे फलित होती है । श्रीचन्द्रावलीजीने करवाये हुए विलंबसे श्रीललिताजी तो विरह–व्यथित हो गई । अत्यंत विरहक्लेशसे, असह्य हृदय–व्यथासे, कृशता अत्यंत आ गई ।

श्रीस्वामिनीजीने अपनी प्रियसखीकी दशा जान ली । इसी ही क्षण श्रीललिताजीको लेकर आप प्रभुके पास पधारी । प्रियसखीका पक्ष करते हुए प्रभुको कह दिया, – “छ मास तक आपने मेरी इस प्रियसखीको विरहकष्ट कराया, इस लिये आप छ मास तक इस ललिताके वशमें रहोगे । और जिसने मेरी सखीको ऐसा दुःख दिया इसको छ मास तक एसा दुःख हो, वह छ मास तक आपके दर्शन भी न पावे ।” यह सुनकर प्रभु चुप ही रहे । प्रियाजीका किया–कहा–हुआ प्रिय कैसे बदल सकें ?

यह बात कोइ सखी द्वारा श्रीचन्द्रावलीजीने जानी, कहा – “प्रियाजी और प्रियतम तो बडे हैं, इनको तो कुछ कहा नहीं जाय, परंतु ललिताजीने सखी होकर मुझको शाप दिलवाया ! ललिताजीने स्वामि–द्रोह किया है । प्रभुसे श्रीस्वामिनीजी प्रकट हुइ हैं । श्रीस्वामिनीजीके मुखचन्द्रसे मेरा (चन्द्रावलीजीका) प्राकट्य है, और मुझसे (श्रीचन्द्रावलीसे) सब सखियाँ प्रकट हुई हैं । प्रभुको दक्षिण पार्श्वमें श्रीचन्द्रावलीजी इस लिये विराजती हैं । चन्द्रावलीजी सब सखियोंमें मुख्य हैं । इस लिये ललिताजीने स्वामिनी– द्रोह किया

है । इससे ललिताकी अकाल मृत्यु हो, प्रेतियोनि हो, श्रीठाकुरजी और श्रीस्वामिनीजी भी रक्षा न कर सकें, किसीसे भी यह प्रेतत्व निवृत्त न हो । मुझे शाप दिलवाया इसका फल वह भोगें ।”

यह सुनते ही ललिताजी काँप उठीं । आकर शीघ्र ही श्रीस्वामिनीजीके चरणोंमें गिर पडी । कष्टकथा कही । सुनकर श्रीस्वामिनीजीने प्रभुको पधरायें । हाथसे गई हुई ललिताजीके लिये कुछ उपाय करनेकी विनति की । प्रभु तुरन्त ही श्रीस्वामिनीजी, श्रीललिताजी तथा सखिसमाजको लेकर श्रीचन्द्रावलीके वहाँ पधारें । – श्रीचन्द्रावलीजीने तत्काल ही उठकर यथोचित स्वागत किया । युगल–स्वरूपको सुन्दर आसन पर विराजाया, भोग अरोगवाया, बीरी अरोगवाई, हाथ जोडकर नम्रतासे खडी रही । तब युगल–स्वरूपने प्रसन्नतासे प्रीतिपूर्वक सखी ललिताजीके शापकी निवृत्ति करनेको कहा । श्रीचन्द्रावलीजीने कहा,–“ललिता तो अपनी है । शाप तो हो गया । यह तो जगतमें लीला एवं भगवन्मार्ग–प्रकट करनेमें उपयोगी निमित्त होगा । यह ललिता प्रेत होगी, इसका उद्धार मैं ही करूँगी, यह मेरा बचन है ।”

ललिताजीने श्रीचन्द्रावलीजीके चरणोमें गिरकर क्षमायाचना की । तब श्रीस्वामिनीजीने कहा, – “यह सब लीलापरिकर कलियुगमें, श्रीगिरिराज़जीके उपर लीला करनी है वहाँ, प्रकट होगा ।”सुनकर सब प्रसन्न हुए । लीलामें स्नेह–द्वेष–क्रोध–शाप सब कुछ दिखाई देते हैं, वे सब प्रकृति–माया–अविद्यादि के कारण नहीं

होते हैं,– केवल लीलाहेतुक, अलौकिक ही लोकवत् हैं, परंतु लौकिक नहीं ही हैं, लोकसंबंधी नहीं हैं, भगवत्संबंधी हैं । **“अ+लौकिक”, में “अ”**–कृष्ण हैं, इस लिये भगवान् कृष्णको मुख्य रखकर, अपना सारा भी लौकिक, कृष्णसे जोड देनेसे, कृष्णसंबंधी बना देनेसे, अलौकिक हो जाता है । लौकिक छोडना नहीं है, कृष्णसे जोडना है । – व्यर्थत्यागकी अपेक्षा भक्ति–मार्गीय – (भगवदर्थ) त्याग सर्वोत्तम है ।

भूतल–लीला–कथा : विप्रयोग–प्रसंग–अंकुर :

युगल–स्वरूपकी यह इच्छासे लीलानुरूप सृष्टि (लीलापरिकर) – कलियुगमें प्रकट हुई । श्रीगिरिराजजीमेंसे श्रीगोवर्धननाथजी प्रकट हुए । इनको श्रीस्वामिनीजीरूप श्रीवल्लभाचार्यजी महाप्रभुजीने प्रकट पधरायें । लीलामें जैसे श्रीस्वामिनीजीसे श्रीचन्द्रावलीजीका प्राकट्य है, वैसे ही यहाँ श्रीवल्लभाचार्यजीसे श्रीचन्द्रावलीजीरूप श्रीविट्ठलनाथजी गुंसाईजीका प्राकट्य हुआ । श्रीललिताजीरूप श्रीकृष्णदास अधिकारीजी हुए ।

श्रीमहाप्रभुजीने कृष्णदासजीको शरण–समर्पण करवाकर श्रीनाथजीके अधिकारी बनाये थे । श्रीगुसांईजीने भी श्रीनाथजीके संमुखमें इसको अधिकारका दुशाला ओढाया था । कृष्णदासजीने गंगाबाई क्षत्रियाणीको स्नेह होनेसे श्रीनाथजीके प्रसाद और दर्शनका सुखलाभ बहुत दिया था । यह गंगाबाई क्षत्रियकी बेटी थी । मथुरामें ११ वर्षकी हुई, तब लग्न

हुआ । नव बेटे हुए,- मरे । बादमें लडकी हुई । ब्याहके बाद वह भी मरी । उसका गहना लाख रूपयेका था । वह कुछ मथुराके हाकेमको देकर रख लिया था । बादमें ५५ वर्षकी हुई, तब इस क्लेशसे तंग होकर श्रीनाथद्वारमें आके रही । कृष्णदासको मिली । श्रीमहाप्रभुको सेवक बनानेकी विनति करवाई । श्रीमहाप्रभुजीने इसको, दैवीजीव होने पर भी मन प्रभुमें स्थिर द्रढ न होने से, सेवक बनानेकी मना की । फिर भी कृष्णदासने साग्रह विनति करके सेवक बनवाई । इसका मन अलौकिक–स्थिर–द्रढ – बनाने के लिये कृष्णदासजी श्रीनाथजीका सुंदर प्रसाद भेजते थे, दर्शन भी हर बार कराते थे । कृष्णदासजी जब श्रीनाथजीकी भेटके लिये अन्यत्र जाते थे तब वह मथुरा आकर रहती थी । पुनः कृष्णदासके आने पर श्रीजीद्वार आती थी ।

श्रीमहाप्रभुजीने ब्रह्मसंबंध करवाया था, दैवीजीव था, फिर भी मन तो प्रभुमें नहीं था ! इसलिये कृष्णदासजीने सत्संग – श्रीजीका प्रसाद–एवं दर्शन दिये थे, उसका मन अलौकिक बनानेके लिये ! कितना कठिन है जीवके लिये मन प्रभुमें लगाना ? कृपाके बिना संभव ही क्या है ?! – स्वशास्त्र–ज्ञान अथवा सुदृढ–सर्वाधिक–स्नेह प्रभुमें न हो तो, जहाँ प्रभुका पूजाप्रवाह अखंड चलता हो, उत्सव होते हो, वहाँ रहना चाहिये । भगवदीय एवं भगवत्सेवा–परायण जनोंके सगमें रहना चाहिये; परंतु कुछ दूर अथवा निकटमें, जैसे चित्त दूषित न हों, भ्रष्टाचार तन–मनका न हो, ऐसे रहना चाहिये । नहीं तो भगवद्धर्मके बुरखेके नीचे, उस बहानेसे, विषय –वासना–भोगादि प्रवृत्त – प्रवृद्ध होना संभव है । यह दंभ–भयंकर पातक है । इससे बचनेके लिये सावधान रहना चाहिये । तदर्थ प्रभु शरण ही करें ।

एक दफा श्रीगुसांईजीने श्रीगोवर्धननाथजीको राजभोग धरा । इसमें गंगाबाईकी दष्टि हुई । इसलिये श्रीनाथजी आरोगे नहीं । श्रीगुसांईजी भोग धरें, और श्रीनाथजी न अरोगें, और श्रीगुसांईजीको ज्ञात न हो, ऐसा संभव नहीं है । यहाँ रहस्य तो कुछ और ही है । श्रीगुसांईजीने जब राजभोग धरा था इसी ही समय श्रीगोकुलमें श्रीगिरिधरजीने निजप्रभु श्रीनवनीतप्रियजीके लिये बरी–चावल (वडी–भात) का मनोरथ किया था । सामग्री श्रीशोभा बेटीजीने बनाई थी । इन दोनोंका मनोरथ हुआ कि श्रीगोवर्धननाथजी भी यहाँ पधारें और नूतन सामग्री आरोगें । भक्तमनोरथ–पूरक प्रभु भक्तोद्धारक–रूपसे श्रीगोकुल पधारें । सामग्री आरोगें । भक्तमनोरथ सफल किया । जब आप श्रीगिरिराजजी–मन्दिरमें वापस पधारे तब तो वहाँ राजभोग हो चूके थे ! सेवकलोगने प्रसाद ले लिया था । श्रीगुसांईजी भी पोढे थे । मन्दिरमें प्रभु श्रीमहाप्रभुजीने पधराये हुए सर्वोद्धारक स्वरूपसे आरोगे थे । इसलिये असमर्पित खाने का दोष सेवक वर्गादिको – नहीं हुआ है । जिस स्वरूपसे आप निजभक्तोंको सर्वविध–सुखदान करते हैं, वह भक्तोद्धारक–स्वरूपसे श्रीगोकुल पधारे थे ।

श्रीगोवर्धननाथजी श्रीगोकुलसे वडी–भात आरोगके वापस मन्दिरमें पधारे, तब श्रीस्वामिनीजीने पूछा,–“कहाँ पधारे थे ।” श्रीनाथजीने श्रीगिरिधरजी – श्रीशोभाबेटीजीके मनोरथकी बात कही । श्रीस्वामीनी–जीको भी सुनके वडी–भात आरोगनेकी इच्छा हुई ! इस लिये आपने श्रीनाथजीको कहा, – “आप रामदास को कहिये कि, सामग्री पर गंगाबाईकी दृष्टि होनेसे मैं आरोगा नहीं हूँ ।” लीलासृष्टिके शापबचन भी अभी चरितार्थ करने हैं । भगवानका कार्य एक होता है, प्रयोजन तो इसमें अनेक होते हैं । प्रियाप्रेरित प्रभु है यह तो ! – लीलारस–परवश हैं ।

प्रभु तो पधारें ! रामदासजीको लात मारकर जगाये ! भीतरियाजीने दंडवत् प्रणाम किये । हाथ जोडे । आज्ञा माँगी । श्रीनाथजीने तो प्रियाजीने जो पढाया था वो ही कहा ! मै तो भूखा हूँ । राजभोगमें गंगाबाईकी दृष्टि होनेसे आरोगा नहीं हूँ ।” आप तो पधार गये । रामदासजीने श्रीगुसांईजीको चरण दबाके जगाये । श्रीनाथजीका सन्देश कहा । अद्भुत है – भगवल्लीला ! आप स्वयं श्रीगुसांईजीसे नहीं कहते हैं सेवकके द्वारा कहलवाते हैं ! और श्रीगुसांइजी भी श्रीनाथसे सीधे पूछते नहीं है, इसके बारेमें ! बडोंकी बडी मर्यादा है, पुष्टिमें भी !!

तुरन्त ही श्रीगुसांईजी स्नान करके मन्दिरमें पधारें इतनेमें रामदासजी –और भीतरीआजी सब भी – स्ना करके आ गये । श्रीगुसांईजीने वडी–भात शीतकाल होनेसे राजभोगमें बनवाये । साथमें शयनभोगकी भ

सामग्री सिद्ध हो गई । इसलिये दोनों भोग साथमें ही घर दिये । श्रीगुसांईजीने मनमें समज लिया, अब प्रभुकी इच्छा लीलाके शापको अनुकूल करनेकी है । गंगाबाईकी दृष्टि होनेकी बात कहनेसे श्रीगुसांईजी कुछ कहें, कृष्णदासको उससे स्नेह होनेसे बुरा मान लें, और इससे विप्रयोग–प्रसंग हो जाय । इसलिये जो कुछ भी सेवा अभी मिलें वह प्रेमसे कर लें । यथासमय प्रभु को शयन कराकर श्रीगुसांईजी पर्वत परसे नीचे पधारने लगें । इस समय एक डबरामें बडी–भात लेकर सबको बाँटते हुए उतर रहे थे । सब आजके स्वादकी प्रशंसा कर रहे थे । श्रीगुसांईजीने भी बहुत सराहना की । शीतकालमें कई दफा बरी–भात किये तो थे, परंतु एसा स्वाद नहीं था । श्रीगुसांईजीने कहा,–“श्रीनाथजी भूखे थे, प्रेमसे आरोगें, इसलिये स्वाद अद्भुत हुआ ।”

पासमें कृष्णदास खडे थे । भगवदिच्छासे इसने व्यंगमें कहा, –“महाराज ! आप ही करनेवाले और आप ही आरोगनेवाले, फिर स्वाद क्यों अद्भुत न हो ? अैसा सौभाग्य ओर किसका होता है ?!” परंतु अधिकार–महत्ताकी अहंता इसमें आ गई !!–“हमें पूछा भी नहीं ?!!” उत्तमता पाकर अभिमानसे बचना आसान नहीं है । स्वदोषस्फूर्ति, तापभाव एवं भगवत्कृपासे ही अभिमानसे बच सकतें हैं । बाह्य – अधिकार अंदरके अधिकारको कम कर देता है । लौकिक अधिकार तो भगवन्मार्गीय अलौकिक अधिकारमें अवरोधक होता है । श्रीगुसांईजीने भान कराते हुए कहा,– “आपके किये हुए ही भोग भोगते हैं । ”दोनों बात स्पष्ट कह दी,

गंगाबाईको प्रीति करके बिठा रखी, नहीं हो वहाँ जाय ही कैसे ?! लीलामें भी श्रीस्वामिनीजीसे शाप दिलवाया है । इस लिये आपके किये हुए ही भोगते हैं । अब जो करना हो वह आप करोंगे ही ।

यह सुनते ही कृष्णदासको बहुत बुरा लगा । इसने श्रीगुसांईजीके दर्शन बंध करनेका सोच लिया ! यौवन, धनसंपत्ति, प्रभुत्व(सत्ता) और अविवेकिता कौन सा अनर्थ न करें ?! केवल एक हो तो भी विनाशक है, तो चारों मिलके क्या न करें ?!! इसमें भी यहाँ तो भगवदिच्छा है, अद्‌भुतलीला है । कृष्णदासने श्रीगुसांईजीके बडे भाई श्रीगोपीनाथजीके पुत्र श्रीपुरुषोत्तमजीको समजा कर, साथ देकर, श्रीनाथजीकी सेवामें टिकेत बनाकर ले आये । उत्थापनके पहले इनको स्नान कराके मंदिरमें ले गये । कृष्णदास दंडवती शिलाके पास रहे । इतनेमें स्नान करके श्रीगुसांईजी पधारे । कृष्णदासने अधिकारके विकारसे कह दिया,– “अब तो श्रीपुरुषोत्तमजी टिकेत हैं । वे सेवामें पधारें हैं । अब तो वे जब आपको बुलावे तब ही पधारें । आप पर्वत उपर न चढें । आपको श्रीगोवर्धननाथजीके दर्शन नहीं होंगे ।” यह सुनकर ही श्रीगुसांईजी लीलाशाप–प्रसंगका स्मरण करके, श्रीनाथजीकी ध्वजाजीको दंडवत्–प्रणाम करके, वहाँ से ही परासोली पधारें । वहाँ विप्रयोग का अनुभव तीव्रतासे करने लगे । श्रीगोकुल पधारें तो विप्रयोग न होय ! बचन निर्वाहके लिये परासोलीमें ही बिराजें ।

विप्रयोग–प्रसंग – पौधा–वृक्ष–पल्लव–पुष्प–फल :

श्रीगोवर्धननाथजीके मन्दिरमें परासोलीकी ओर एक खिडकी थी । वहाँ पधार कर श्रीनाथजी श्रीगुसांईजीको दर्शन देते थे ! श्रीगुसांईजी दर्शन–लालसासे बारबार वहाँ ही देखा करते थे । एक दफा कृष्णदास कार्यवश आन्योर आये । तब खिडकीमें बिराजे हुए श्रीनाथजीको देखे । बात समजमें आ गई । मंदिरमें आकरके उसने तो श्रीनाथजीको ऐसे दर्शन देनेकी मना कर दी ! खिडकी चुनवा ली । प्रभुको भी अधिकार नियममें रखना चाहता है !! सर्वसमर्थ प्रभु तो भक्त–वत्सलतासे, लीलाहेतुसे, नियम मान भी लेतें हैं !! श्रीनाथजीको तो खेलनेके लिये भी कृष्णदास परासोलीकी ओर न जाने देता था ! श्रीगुसांईजी सर्वाधिक–सुदृढ–स्नेह श्रीगोवर्धननाथजी में होनेके कारण तीव्र–विरहका अनुभव करते थे । स्नेह होता है वहाँ ही हृदय–संस्पर्श होता है, संवेदन होते हैं । स्नेह जितना अधिक प्रगाढ तीव्र होता है, इतना ही उसका हृदयसंस्पर्श अधिक प्रगाढ तीव्र होता है । हृदय संस्पर्श ही स्नेहका द्योतक होता है । श्रीगुसांईजीका हृदय संस्पर्श अत्यधिक–अतिप्रगाढ–अतितीव्र था । इससे हृदयसंस्पर्श शब्दोमें व्यक्त सहजरूपमें हो जाता था । शब्द और अर्थकी अनुरूपतासे शब्दार्थ–याथार्थ्य ढूंढना नहीं पडता था । व्यथाकथा –हृदयमें ही स्फुरायमान स्वाभाविक शब्दोंसे व्यक्त हो ही जाती थी, इससे “व्यथाकथा”–रूप “हृदय–संस्पर्श”–

"**विज्ञप्ति**"–के रूपमें बहता था ।

श्रीगुसांईजी इस शब्द – स्रवणको लिपिबद्ध करते थे । पुष्पकी मालामें हृदयपुष्पकी संवेदना – सौरभ गूंथ लेते थे । अपना संदेश श्रीनाथजीके लिये मालामें गुप्तरीतिसे रख लेते थे । राजभोग – आरतिके बाद रामदासजी श्रीगुसांईजीके पास श्रीनाथजीका चरणोदक लेकर हमेशां आते थे । इसके साथ श्रीगुसांईजी मालामें संदेशपत्र गुंफित कर देते थे । श्रीनाथजी पत्र निकालकर पढ लेते थे और ऐसी ही अपनी हृदय–व्यथा कथा,–हृदय–संस्पर्श आप भी प्रत्युत्तरमें लिख देते थे । अद्‌भुत उपाय था लिखनेका भी ! परस्पर हृदय–संवेदनका निवेदन होता था । पानके बीडेके ऊपर अपनी ही चर्वित ताम्बूल–पीकसे सलाईसे यह व्यथाकथा, हृदयसंस्पर्श, "**विज्ञप्ति**"का प्रत्युत्तर लिखकर रामदासजीके साथ भेजते थे ! एसे अभिव्यक्त होती थी,–परस्पर–व्यथाकथा ! हृदय–संस्पर्शसे शब्दार्थ संगति अपने आप हो जाती थी ! श्रीगुसांईजी इस हृदयामृत तो अधरामृत–संवलित होनेसे जलमें पीगालके पान कर जाते थे ! प्रियके हृदयामृत–अधरामृतको अपने हृदयमें पधरा लेते थे ! रोम–रोममें वह फैल जाता था! इसलिये श्रीनाथजीके प्रत्युत्तर तो प्रकट नहीं हुए हैं; परंतु श्रीगुसांईजीकी "**विज्ञप्ति**" तो प्रकट हो गई हैं । श्रीनाथजी वह पढकर रामदासको देते थे ।

पुनः संयोग–प्रसंग :

श्रीगुसांईजीके हृदयकी विशालता :

रामदासजी प्रभृति सेवक नित्य आते थे, परासोलीमें, श्रीगुसांईजीके पास ! कृष्णदास रोकता था, फिर भी उसका कुछ चलता नहीं था । ऐसे पौष शुक्ल ६ से आषाढ शुक्ल ५ – तक श्रीगुसांईजीने विप्रयोग किया । आषाढ शुक्ल ५ को राजा बीरबल श्रीगोकुलमें श्रीगुसांईजीके दर्शनके लिये आये । श्रीगिरिधरजीसे वृत्तान्त सब विदित हुआ । इसी ही दिन मथुरामें आकर उसने शामको कृष्णदासको पकड मँगवाया । समाचार मध्यरात्रिमें ही श्रीगोकुलमें भेज दिये । श्रीगिरिधरजी अश्वारोहण करके रात्रिमें परासोली पधारें । श्रीगुसांईजीको बात सब सुनाई । श्रीगुसांईजीने तो कृष्णदासकी आज्ञा हो तो ही सेवामें चलनेका कहा ! श्रीगिरिधरजीने कहा "कृष्णदास तो कारागारमें है ।" सुनते ही परमकृपाल श्रीवल्लभनन्दन श्रीगुसांईजी चित्कार कर उठें,–"हा ! हा ! श्रीमहाप्रभुजीके सेवकको एसा कष्ट ?! जब वह आयेंगे तब ही मैं भोजन करूँगा ।" तुरन्त ही श्रीगिरिधरजीने बीरबलसे यह समाचार कहे । कृष्णदासको छुडाके ले आये । श्रीगुसांईजीने श्रीनाथजीके अधिकारीका, श्रीमहाप्रभुजीके सेवकका, सन्मान खडे होकर किया ! उसका अपराध तनिक भी नहीं माना ! तब कृष्णदासने पैरोंमें गिरकर गाया,–

“ताहींको सिर नाँइये जो
श्रीवल्लभसुत पदरज रति होई ।
कीजे कहा आन ऊँचे पद
तिनसों कहा सगाई मोई ॥१॥
जाके मनमें उग्र भरम है
श्रीविट्ठल श्रीगिरिधर दोई ।
ताकौ संग विषम विष हू ते
भूले चतुर करो जिन कोई ॥२॥
सारासार विचार मतो करि
श्रुतिवच गोधन लियो निचोइ ।
तहाँ नवनीत प्रगट पुरूषोत्तम
सहजई गोरस लियो है बिलोई ॥३॥
उग्रप्रताप देखि अपने चख
अश्मसार ज्यों भिदे न तोय ।
कृष्णदास सुर तें असुर भए
असुर तें सुर भए चरन छोय ॥४॥”

यह सुनके श्रीगुसांईजी बहुत प्रसन्न हुए- कृष्णदासने अपना अपराध क्षमा करने की विनति की । श्रीगोर्वधननाथजीकी सेवामें पधारनेकी नम्र विनती की । श्रीगुसांईजीने कहा,- “आपकी आज्ञा है तो चलेंगे ।” तब अषाढ शुक्ल ६ का दिवस था । श्रीगोवर्धनाथजीको दंडवत्प्रणाम किये, शृंगारका समय था । उत्सवके शृंगार किये । राजभोग पहूँचे । बादमें

उत्थापनसे शयन तक पहूँचे । शयनमें श्रीनाथजीकी संमुखमें कृष्णदासजीको अधिकारका दुशाला उठाया । कहा,-“श्रीनाथजी का अधिकार आप करें । आप धन्य हैं ।” इस समय - कृष्णदासजीने गाया,-

परमकृपाल श्रीवल्लभनन्दन करत कृपा निज हस्त दे माथै ।
जे जन सरनि आय अनुसर ही ग्रहिं सोंपत श्रीगोवर्धननाथै ॥१॥
परम उदार चतुर चिंतामनि राखत भवधारा तें साथै ।
भजि कृष्णदास काज सब सरही जो जानै श्रीविट्ठलनाथै ॥२॥”

यह पद गाकर विनति की,-“महाराज ! मेरा अपराध क्षमा कीजिए ।” तब श्रीगुसांईजीने कहा,-“तुम्हारा अपराध श्रीनाथजी क्षमा करेंगे ।” बादमें श्रीनाथजीको अनोसर कराया । सब प्रसन्न हुए । श्रीगुसांईजी श्रीनाथजीकी सेवा करते थे और कृष्णदासजी अधिकार करते थे । श्रीगुसांईजीकी कृपालुताके ओर भी ऐसे कई प्रसंग है ।

श्रीगुसांईजीके विपुल हृदय-वैभवका यहाँ स्पष्ट दर्शन है । आप आचार्य-स्थानापन्न है, मन्दिरके स्वतंत्र नियामक है, श्रीवल्लभाचार्यजीके सीधे वंशज - वारिस है, अकबर बादशाह-बीरबल प्रभृति सत्ताधीशोंके सन्मान्य है, कृष्णदास तो आपका आश्रित है, फिर भी कृष्णदासजीकी आज्ञा-सत्ता आप मानतें हैं ! विप्रयोगका दारूण दुःख पाने परभी आप न सामना करतें हैं, न आरोप-आक्षेप करतें हैं, न प्रतिवाद-विवाद भी करतें हैं, न अमङ्गल-कामना करतें हैं, न रोष करतें हैं, न कोई छूटकारा पानेका उपाय-साधनादि करतें हैं, न किसीकी सहाय माँगतें हैं,

न कृष्णदासको भी कोई विनति करतें हैं– न आज्ञा करते हैं ! न सुविधा कामना ! फिर व्याहारिक–राजनैतिक–छलप्रपंचकी तो बात ही क्या है ?! अपकार करनेवाला, दुःखप्रद कृष्णदास भी अगर दुःखमें है, तो यह आपको असह्य लगता है, अन्नजल छोडके भी इसको आप छुडवाते हैं !–उपकार करतें हैं ! यही है यथार्थ साधुता – हृदयभद्रता – हृदयवैभव–भक्तिमार्गीयता !

शुद्ध हृदयमें ही भगवदावेश : वरणसे प्रभुप्राप्ति :

कितना निर्मल शुद्ध भावसभर यह हृदय है ?!! भगवदीय एवं भगवान् ही ऐसी वरिमता–गरिमा–कृपालुता–क्षमाशीलता– उदार अनुग्रह– परायणता – रख सकतें हैं। अशुद्ध हृदयमें तो भगवदावेशका संभव भी नहीं है। "**हृदयस्यात्यशुद्धत्वान्न तत्रावेशसंभवः।**"–(१–९) श्रीहरिरायजी "शिक्षापत्र" में आज्ञा करतें हैं। संसारीओंका हृदय तो अहंता–ममता एवं काम–क्रोधादिसे अत्यंत अशुद्ध होता है। इसमें सर्वशुद्ध भगवान् पधारें ही नहीं। पधारनेके लिये आप ही स्वयं हृदयशुद्धि कर देतें हैं अथवा करवातें हैं। "**शुद्धं विधाय हृदयं पश्चात्तत्राविशेत् स्वयम्।**"–शिक्षापत्र (१–१०)। हृदयशुद्धिके बाद ही आप हृदयमें पधारतें हैं।

यद्यपि सर्व प्राणियोंके हृदयमें तो अन्तर्यामी रूपसे भगवान् विराजमान है ही। प्रत्येक जीवके साथ हृदयमें अन्तर्यामी रूप भिन्न भिन्न ही होता है। अन्तर्यामीका

तो नियतकार्य कहा गया है,– अपनी मायासे भूतोंको भटकानेका ! संसारमें, भिन्न भिन्न योनियोंमें, वह तो घूमाता ही रहता है। रोकनेवाला – अटकानेवाला भगवान् तो बहारसे अन्दर प्रवेश करता है, तब अन्तर्यामी सर्वात्मा–परमात्मा–रूपसे कृतार्थ कर देता हैं। रसोइके लिये आजकल प्रायः लोग गेस चलाते हैं। गेसमें अग्नितत्त्व तो है, परंतु प्रकट नहीं है, स्वरूप तो गेसका हैं; परंतु बहारसे जब घर्षणसे, लाईटर वगैरहसे, या दियासलाईसे, अग्नि–संबंध कराया जाता है, तब गेस प्रदीप्त अग्निरूपमें दिखाई देता है। वह तब ही यथार्ह कार्य करता है, गेसके रूपमें तो मात्र संगृहीत ही रहता है। ऐसे ही, अन्तर्यामीमें भगवत्त्व होते हुए भी वह प्रकट नहीं है, बहारसे प्रभु अंदर पधारें तब वह गूढ भगवत्व प्रकट हो जाता है, वह कृतार्थ करता है।

प्रभु अपने स्वरूपबलसे एवं प्रमेयबलसे हृदयशुद्धि करकें पधारें यह तो केवल कृपा है, पुष्टि है; जिसमें जीवको कुछ भी करना ही नहीं होता है। "**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।**" – मुण्डक श्रुति (३–२–३) कहती है। भगवान् जिसको मिलनेकी इच्छा करें, इसका वरण करें, इसको पसंद करें, इसके पर अनुग्रह करें। इसको ही अपने आप मिलें। "अणुभाष्य" में श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करतें है,–"**स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिः।**" –(३–३–२९) भगवान् अपने ही स्वरूपबलसें जीवको अपनी प्राप्ति करावें वह पुष्टि है। इसमें जीवके साधन–सामर्थ्य–संयोग–पात्रता–प्रयासकी अपेक्षा नहीं

रहती है । जीवके लिये सबकुछ भगवान् ही कर लेतें हैं । यथार्थ कहें तो, भगवान् जीवको प्राप्त करतें हैं ! भगवान् अपनेको प्राप्त करा देतें हैं । अगर वह साधन कराना भी चाहतें हैं, तो साधन भी अवश्य करातें हैं । साधन मिलातें हैं आप, कराते हैं भी आप और मिलते भी है आप ! सब आपकी ही इच्छा पर निर्भर है । यह होती है मर्यादामिश्र पुष्टि – मर्यादापुष्टि । आधुनिक जीवोंका अंगीकार प्रायः इसमें माना गया है । इसलिये जीवोंके लिये यथोचित साधन अपेक्षित है ही । जहाँ मर्यादित साधन–प्रयत्न और मर्यादित ही फल है,–यह है शास्त्र–मर्यादा । जैसा दाम ऐसा काम, या जैसा काम ऐसा दाम, जैसा होता है । भगवानने सृष्टिपूर्वकालमें सोच रखा है,–इस जीवको, इस कर्म कराकर, इस फल दूँगा, –ऐसा ही होता है । शास्त्रीय साधन ज्ञान–भक्ति–द्वारा मुक्ति दे, यह मर्यादा है । इसके बिना भी, शास्त्रीय–ज्ञान–भक्ति रहितोंको भी भगवान् अपनी प्राप्ति अपने ही बलसे करावें,–यह पुष्टि कहलाती है । जिस जीवका जिस मार्गमें अंगीकार होता है, तहाँ ही उसको प्रवर्तित करके उस फल भगवान् देते हैं । यह स्थिति है । –व्यवस्था है ।

"कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना । विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः ॥" – (११–१४–२३). रोमांच हुए विना, चित्ताके पीघले बिना, आनन्दाश्रु–कलाओंके बिना, (ऐसे विकार–चिह्न–प्रकट करनेवाली) भक्तिके बिना, अंतःकरण–हृदय कैसे शुद्ध होता है ?! अगर हृदयमें भक्ति होती है, तो इससे प्रभुकी याद मात्रसे हृदय उमडता है,– पीघलता है, द्रवीभूत हो जाता है । उमडा हुआ हृदय कण्ठको गद्‌गद् बना देता है,– वाणी गद्‌गद् हो जाती है । मानों सारे शरीरमें उमडा हुआ हृदय फैल जाता है,– रोमांच–रोमोद्‌गम – इससे हो जाता है । आँखोसे अश्रुधाराएं बहती रहती हैं । इससे ही होती है– हृदयकी शुद्धि, संपूर्ण पवित्रता !

भगवत्स्मृतिसे हृदय पीघले तब वैष्णवता है :

भगवदर्थ हृदयका उमडना और न उमडना :

अगर, भगवन्नाम–ग्रहणसे अथवा रूपस्मरणसे हृदय उमडे नहीं, पीघले नहीं तो वह निष्फल ही है । श्रीभागवत (२–३–२४) में स्पष्ट कहा है,–**"तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्‌गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः । न विक्रियेताथ यदाविकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥"** यहाँ "श्रीसुबोधिनी" में श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करतें हैं कि,– खेदकी बात है कि, भगवच्चरित सूनने पर भी, भगवद्यशोगान करने पर भी, भगवन्नाम–रूप स्मरण–करने पर भी, हृदय उमडे नहीं,–पीघले नहीं ! यह यद्यपि धैर्य गुण तो है, परंतु भगवच्चरितादि सूनने पर भी वह यदि धीर ही रहता है, तो इस हृदय का धैर्य तो लोहे जैसा है । पत्थरोंका सारभूत हृदय ही भगवत्संबंधसे भी पीघलता नहीं है । इससे तो इस हृदयमे भगवच्चरणारविंद पधारते ही नहीं हैं,– संभव ही नहीं है । अपने वा अन्यके दुःखसे तो शायद हृदय पीघले भी ! – संसारीओंका स्वदुःखसे और

सत्पुरूषोंका – अन्यके दुःखसे, परंतु इसे तो कोई कृतार्थता नहीं है । हृदय तो पीघलना चाहिये, – भगवन्नामसे – भगवद्वाचक पदोंसे – भगवत्कथासे – भगवच्चरितसे – भगवत्स्मृतिसे ! जिस घरमें प्रभुका पधारना संभव है, वहाँ ही मार्जन–प्रोक्षण–आदि संस्कार होते हैं, शुद्धि – पवित्रता – शोभा – होती है । सारी यह शुद्धिमें मुख्योपयोग होता है, – जलका ! हृदयजल आंखोंसे बहने लगता है, तब सारी शुद्धिक्रिया संपन्न हो जाती है । जहाँ ऐसी प्रभु पधारनेकी संभावना ही नहीं है, वहाँ तो ऐसी हृदयविक्रिया होती ही नहीं है । हृदय जब भगवत्सम्बन्धसे उमडता है, तब इसके ज्ञापक दो होते है,–१. नेत्रोंमे जब–अश्रुधारा; २. सारे शरीरमें रोमाञ्च । हृदयका यह उमडना–पीघलना एवं विकार ही भगवदीयताका परिणाम है । तब ही भगवत्संबंध (ब्रह्मसंबंधादि) करनेवालोंकी वैष्णवता होती है, अन्यथा नहीं । उमडता हुआ हृदय भगवदीय है; और उजडता हुआ (न उमडता) हृदय आसुर ही है । हृदयके न उमडने में यह भी संभव है । हृदयमें साक्षात् प्रभुका प्राक्ट्य हो चूका है । तब तो हृदयभाव अश्रु–आदिरूपसे बाहर प्रकट नहीं होता है । जब तक अंतःकरणमें साक्षात् प्रभुका प्राकटय नहीं हुआ है तबतक ही भगवद्भावका बाह्य प्राकटय अश्रुप्रभृति रूपमें होता है । "**अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।**"– ब्र.सू. (३–४–४९) के "अणुभाष्य" में श्रीमहाप्रभुजीकी यह आज्ञा है ।

पूर्वोक्त सुबोधिनी – वचनसे, समन्वय करने पर

यह फलित होता है कि, जहाँ प्रभु पधारनेका संभव है वहाँ अश्रुपातादि संस्कार होते हैं । प्रकट पधारनेके बाद वह नहीं होता है । अर्थात् यह हृदय उमड चूका है, अब फलरूप भगवत्प्राप्ति हो जाने से उमडता नहीं है । उमडना पूर्वकक्षा है, प्रभु पधारनेकी बधाई है ; परंतु जो हृदय उमड चूका नहीं है और उमडता भी नहीं है वह तो निश्चित आसुर ही है । विप्रयोगमें श्रीगोपीजनका रुदन भगवानकी बाह्य अनुभूति न होनेसे है, आंतर अनुसंधानमें नहीं है ।

विराड्–रूपमें रोमको वृक्ष–रूप मानें है, और वेदमें,–"**वैष्णवा वै वनस्पतयः ।**"–वैष्णव वनस्पति रूप हैं – एसा कहनेसे वृक्षाकी वैष्णवरूपता है । इससे रोमांच वैष्णवोंकी उन्नति है, यह तो वैष्णवतासे ही होती है । अथवा, जलसिंचनसे जैसे पौधे–वृक्ष विकसित होते हैं, एसे ही भगवद्रसका अंतःकरणमें पूरण होनेसे, भगवद्–रसोद्रेकसे, ही रोमांच होता है । सजल–नेत्र कमल सदृश होते हैं, नहीं तो जल नेत्रसे गिरने पर–स्थानच्युतिसे – केवल शुष्क ही होते है । हृदयंगत रसालता ही रसार्द्र बनाती है । भक्तिका यह स्वभाव है, प्रभाव है ।

कृष्णभक्तिसे ही पवित्रता :

भक्तिजन्य शुद्धि जैसी शुद्धि अन्यसाधनोंसे नहीं ही होती है । श्रीभागवतमें सुस्पष्ट कहा है,– "**धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ।**"–

(११–१४–२२). सत्य–दया–पवित्रता–तपः यह धर्मके चार चरण कहे गये हैं । व्यक्तिके आचरणमें यह चार चरण न हों तो इसका धर्म शिथिल है,–निराधार है । मकान नींवके बिना मजबूत होता नहीं है, अपने आप गिर जाता है, अन्दर रहनेवाले सलामत नहीं रह सकतें हैं, इसी तरहसे जिनके धर्माचरण (सेवा–कथा–जप–पाठ–यात्रा–दान–ध्यान–यज्ञ–प्रभृति) में तपः – पवित्रता – दया – सत्य नहीं है, उनकी धर्मक्रिया केवल भाररूप–व्यर्थ होती है । उसमें दोष धर्म एवं शास्त्रका नहीं है, आचरण करनेवालोंकी ही शिथिलता है । तपः और पवित्रताका यहाँ उल्लेख नहीं है, –शायद आधुनिक कालमें सर्वसुलभ न होने से ! किंतु सत्य और दया तो अपेक्षित है ही ! चार चरण सहित अचरणमें आया हुआ धर्म, अथवा तपः–संयुक्त विद्या भी, कृष्णभक्ति जिसके हृदयमें नहीं है इसको योग्यरीतसे पूर्णरूपसे, फल प्राप्ति योग्य, शुद्धि–पवित्र–नहीं ही करते है !

भक्तिसे हृदय उसका उमडे–पीघले, अश्रुधारा बहे, वाणी गद्‌गद्‌ हो, शरीरमें रोमांच हो, उसका हृदय तो पवित्र होता ही है, परंतु एसा व्यक्ति केवल अकेला ही पावन नहीं हो जाता है, कृष्णभक्तिवाला तो सारे संसारको भी पावन कर देता है । श्रीभागवत यथार्थ निरूपण करता है,– “**वाग्‌ गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च । विलज्ज उद्‌गायति नृत्यते च मद्‌भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ।**”–(११–१४–२४). जिसकी वाणी गद्‌गद्‌ है, जिसका चित्त पीघलता है, जो बारबार रोता है और कभी हसता है,

लज्जारहित जो कभी उच्चगान करता है, कभी नाच देता है और जिसके शरीरके रोम खडे हो जाते हैं (रोमाञ्च होता है), एसा मेरा भक्त (कृष्णभक्तिवाला व्यक्ति) विश्वको, त्रिभुवन वा सात या चौदह भुवनको पावन करता है, इसकी स्वयं पवित्रताके बारेमें तो कहना ही क्या ?!

भगवदर्थ रुदनसे पवित्रता :

भक्तका रुदन भक्तिके उद्रेकसे होता है । रुदन एवं रोना तो भगवानने मानवमात्रको जन्मतः ही प्रदान कर दिया है । बच्चा जन्मसे ही रोता है । अंत तक फिर विविध हेतुसे रोता रहता भी है । रोनेके लिये न सिखना पडता है, न सिखाना पडता है । हृदयकी संताप–संवेदना ही रुलाती है, रुदन स्वाभाविक हो जाता है प्रायः सबके लिये, परंतु सबका रोना प्रायः स्वाभाविक ही है,–स्वार्थ के लिये ! रोते होंगे कोई सज्जन परमार्थके लिये , परंतु भगवदर्थ रोनेवाले तो मात्र भक्त ही है । स्वार्थ या परमार्थ–रुदन स्वान्तःशुद्धि नहीं कर सकता है । भगवदर्थ–रुदन, भगवत्संबंधी रुदन, शीघ्र ही स्वान्तःशुद्धि करता है । सहज सबको मिला है, – रुदन ! भगवानका है, – प्रदान ! संबंध कर दें उसका, – भगवानके साथ ! जीवन अपने आप हो जायगा – भगवत्संबंधी– भगवदीय ! हृदय ऐसे रुदनसे होता जाता है, – पवित्र, शुद्ध !

रोमांच ही यथार्थ चिह्न है,– भक्तिका :

भगवानके लिये रुदन करनेवाले भी कई लोग,

दिखाई देते हैं । संभव है, इन सबमें भक्ति न भी हो, वे भक्त न भी हों ! भगवच्चरितका हृदयस्पर्शि–प्रसंग, भगवानके दिव्यगुण, भगवद्भक्तोंकी उपस्थिति, लीलानुरूप अपने जीवनकी घटना–समानता, वक्ता वा लेखककी हृदयंगम शैली, हृदयकी कोमलता, भी रुदनमें कारणभूत हो सकें ! दंभसे भी अश्रुपात और गद्गद्वाणी तो दिखला सकें, परंतु रोमांच ऐसे नहीं होते हैं । हृदयमें अगर भक्ति हो और वह भक्ति प्रसंगवशात् रोम – रोममें जब फैल जाती है, यह हृदय–भक्ति–उन्नति रोमको भी उन्नत कर देती है । रोमांच हो जाते है । यही यथार्थ, – प्रगाढ, – शुद्धि – संपादक, भक्तिकी निशानी है ।

सात्त्विकताके आठ चिह्न :

“**स्वेदः स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥**”– मुनि भरतने ये आठचिह्न मनकी सत्त्वसे उत्कटदशाके बतायें हैं । १. **स्वेदः**– शरीरमेंसे प्रस्वेद – पसीना होना, २.**स्तम्भः**– क्रियाओंका रुक जाना, खंभेकी तरह स्थिर हो जाना, ३. **रोमाञ्चः**– शरीरके उपर, चमडीके छिद्रोमें., उगे हुए छोटे छोटे बाल–रोमका खडा हो जाना, ४. **स्वरभङ्गः** – रोगादि–रहित दशामें भी, हृदयभर आनेसे कण्ठका गद्गद् हो जाना, स्वरमें आंसुसे भंग–अवरोध– होना, ५. **वेपथुः** – शरीर एवं अंगका कांपना, (हृदयमें उमडे हुए भावके कारण), (भय–क्रोधादिसे नहीं), ६. **वैवर्ण्यम्** – शरीरका

वर्ण–कान्ति का बदल जाना (रोगादिसे नहीं, हृदयभावसे), ७. **अश्रुः** – आंखोमेंसे भाववशात् आंसुओंका उमडना – बहना, ८. **प्रलयः**– मूर्च्छित हो जाना । यहाँ भी रोमांच, स्वरभङ्ग और अश्रु तो है ही । परंतु ये तो मनमें सत्त्वगुणकी अधिकतासे होता है । प्रकृतिके तीन गुण हैं, – सत्त्व, रजः और तमः । रजः और तमःका उपमर्द करके जब सत्त्वगुण बढ जाता है तब सात्त्विक वृत्ति –प्रवृत्तियाँ होती हैं । सत्त्वगुणकी उत्कटदशामे इसके बाह्यचिह्न – परिणाम–निशानियाँ–ऐसी कुछ दिखाई देती है, स्वाभाविक होती है ।

सात्त्विकतासे अधिक है,– कृष्णनिष्ठा !

भक्तिमें भी रोमांच, स्वरभङ्ग, अश्रु है तो सही, परंतु यहाँ केवल सत्त्वोद्रेकसे नहीं होते है, भक्तिसे ही होते हैं । भक्ति यहाँ तो कृष्णकी है । कृष्ण प्रकृतिके – प्राकृत – गुणोसे पर हैं, निर्गुण हैं; इस लिये कृष्णनिष्ठ जो कुछ भी होता है वह सब प्राकृतगुणोंसे पर हैं, निर्गुण हैं । “**मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्** ।”– (११–२५–२४)– में भगवानने उद्धवजीको कृष्णसंबंधसे–कृष्णनिष्ठासे सबकी निर्गुणता बताई है । इसलिये कृष्णभक्तिसे हुए रोमांच, स्वरभङ्ग, और अश्रु निर्गुण है, सत्त्वोद्रेकसे भी अधिक – उत्कट है । “**भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते** ।”– (११–२५–३२). भक्तियोगसे कृष्णनिष्ठ व्यक्ति कृष्णभाव–कृष्णरूपताको प्राप्त करता है । सत्त्वोद्रेकसे तो यह फल नहीं ही होता है, यह विशेषता है ।

भक्तिमें पवित्रता – निर्दोषता होती है, लौकिकदोष इसमें आते नहीं है । भक्तिमें अश्रु–गद्‌गद्‌वाणी रोमांच क्रमशः है ।

भक्ति भगवानको प्राणाधिक प्रिय है; भक्तिसे भगवान् वश होते हैं :

भक्ति तो भगवानकी प्रिया है, प्राणोंसे भी अधिक है । श्रीभागवतजी के पद्मपुराणीय माहात्म्यमें कहा है,–“**त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका त्वयाहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि ॥**”–(२–३). प्राणप्रिया भक्तिके बुलाने पर भगवान् नीचके घरमें भी पधारते हैं । मधुवन तो मधु असुरका बन था । फिर भी इसमें ध्रुवजी नामक बालक आया, जिसमें भक्ति थी, इसी भक्तिके बुलाने पर भगवान् मधुके बनमें पधारें ! “**मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षयागतः ।**”– श्रीभागवत (४–९–१). वन तो था मधुका ! – दोषवाला – नीचगृह था ! फिर भी ध्रुवमें रही हुई भक्तिने पुकारा, भगवान् वहाँ पधारे ! भृत्यदर्शनके लिये भगवान् पधारे ! घर तो था हिरण्यकशिपुका–नीचका ! वहाँ भी प्रह्लादजीमें रही हुई भक्तिने भगवानको पुकारा, भगवान् वहाँ भी पधारें । भक्ति ऐसी शक्ति है जो भगवानको भी पकडके – खींचके–ले आती है, – वशमें कर लेती है । सर्वसमर्थ होने पर भी भगवान् भक्ति – परवशता स्वीकार कर लेतें हैं । “**वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ।**”– श्रीभागवत (८–४–६६). सन्नारी अपने सध्दर्मोंसे जैसे अपने सत्पति को वश

करती है, ऐसे भक्त जो भगवानमें बध्दहृदयवाले है, समदर्शी है, वो भगवान्‌को भी वश कर ही लेते हैं ।

बुढापेमें भक्तिका गुजरातमें वास :

कृष्णभक्तके लिये ज्ञान–वैराग्यकी प्रायः गौणता :

यह भागवत–माहात्म्योक्त – भक्ति द्रविडदेशमें उत्पन्न हुई है, कर्णाटक–प्रदेशमें वृद्धिगत हुई है , कहीं कभी महाराष्ट्रमें रहकर, गुर्जरमें वृद्ध हुई है । पुनः वृन्दाबनमें युवती हुई है । व्यवहार – व्यापारादि–कुटुंबादिक – लौकिक कार्योंकी मुख्यता और भगवानकी भगवत्कार्योंकी गौणता हो, यह भक्तिकाय बुढापा है । बुढापेमें अस्तित्व तो होता है, परंतु प्रायः कार्यक्षमता नहीं होती है । इसी तरहसे भक्तिके होते हुए भी, जीवको मोक्ष वा भगवान् देनेकी इसकी क्षमता – रहितता वह बुढापा है । वार्धक्यमें शान्ति – सहाय – सुविधा अपेक्षित है, गुर्जर–देशमें यह सुलभ होने से भक्ति स्वजन्मस्थान द्रविडमें रहीं नहीं, स्ववृद्धिस्थान कर्णाटकमें रही नहीं, क्वचित् क्वचित् स्ववासस्थान महाराष्ट्रमें भी रही नहीं ! स्थिर वासके लिये गुर्जरदेशमें ही आयी ! उत्तरावस्थामें अकिंचित्कर को निभाये कौन ?! और यहाँ भक्तिको अपने बुढापेका दुःख नहीं था !!! न तो दुःख था अपने बुढे दो बेटोंका ! क्योंकि सब बूढे ही थे !! दुःख तो वृन्दाबनमें दिखलाया ! वहाँ भक्ति युवती हो गई ! परंतु इसके दो बेटे – ज्ञान और वैराग्य – तो बुढे ही रह गये !! दुःख तो इस बातका हुआ भक्तिको ! –

श्रीवृन्दावनमें – श्रीयमुनातट पर !!! भगवानको मुख्य बनाकर सब भक्तिमग्न रहें, परंतु ज्ञान–वैराग्यके तो कोइ ग्राहक ही नहीं !! और भगवान् श्रीकृष्णने भी भेरीघोष जैसी बात कह दी ! –"**तस्मान्मद्भक्ति – युक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥**"– (११–२०–३१) –कृष्णभक्तियुक्त, कृष्णसंलग्न, महात्माको न ज्ञान एवं न वैराग्य प्रायः श्रेयोरूप होता है !! "**प्रायः**"– पदसे अप्रधानता कह दी । अपवाद–रूप किसीको उपयोगी होते होंगे भी ज्ञान–वैराग्य, – यह दिखाने के लिये ! अब भक्तिप्रचुर – प्रदेश वृन्दावनमें ज्ञान–वैराग्यके ग्राहक कहाँसे मिले ?! कौन मिले ?! कैसे मिले ?!

यौवन–प्राप्त ज्ञान–वैराग्यके साथ युवती भक्तिका वैष्णव–मनमें निवासः

फिर भी भक्ति तो है,– भगवानकी प्राणप्रिया ! इसका दुःख भगवानसे सहन नहीं हुआ । नारदजीको निमित्त बनाये । सनत्कुमारों द्वारा भक्तिके दुःख निवारणके लिये श्रीभागवत–सप्ताह–कथा करवाई । कथाप्रभावसे युवावस्था–प्राप्त ज्ञान–वैराग्य, युवती भक्तिके साथ नाचते–कूदते आये कथा–सभामें ! ज्ञानी कुमारोंने युवावस्थासे सुखप्राप्त सक्षाम भक्ति–ज्ञान–वैराग्यको पधरायें,– धैर्यपूर्वक निरंतर बासके लिये,– वैष्णवोंके मनमें । ऐसे वैष्णवके भक्ति–ज्ञान वैराग्य स्थिर – प्रसन्न – स्वकार्य – क्षम – फलप्रद – भगवानको भी वश करनेवाले हैं ।

पुष्टि–भक्ति और मर्यादा – भक्तिका स्वरूप – विचार :

भक्तिके भिन्न–भिन्न स्वरूप एवं व्यारव्याएं उपलब्ध होती हैं । भगवद्विचारित अधिकारानुसार यथारूचि लोगकी प्रवृति होती हैं । फल भी तद्नुरूप ही होता है ।

१. वैराग्यपूर्वकप्रवृत्त भक्ति :

भगवानको वश करनेवाली बलरूपा भक्ति :

वेदमें कहा है,–"**भक्तिरस्य भजनं, तदिहामुत्र च फलभोगनैराश्येनामुष्मिन् मनः कल्पनम् ।**" इस (भगवान्–जो प्रकट है) का सेवन भक्ति है, वह है – लौकिक–पारलौकिक फलभोगकी इच्छासे रहित होकर, निरपेक्षभावसे यही प्रकट प्रभुमें मनको लगाना । यह एक स्वरूप है भक्तिका, जो वैराग्यपूर्वक प्रवृत है, – भगवानसे संबद्ध है । २. "**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।**"– (मुं. ३–२–३) श्रुतिमें बलका कार्य प्रभुका वशीकरण, कहा है । "**वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या–**" भाग. (९–४–६६) – में भक्तिको ही ऐसा बल कहा है । भगवानको वश करने वाला बल है – भक्ति ! ऐसे भक्तके हृदयमें भगवत्प्राकट्य होता है ।

२. भगवानका यथार्थ–ज्ञान करानेवाली भक्ति :

"गीताजीमें श्रीभगवान् कहते हैं,–" **भक्त्या मामभिजानाति ।** – (१८–५५) – भक्तिसे भगवानका यथार्थज्ञान होता है,–"मुजे भक्तिसे यथार्थरूपसे जानता है ।" इससे ज्ञात होता है कि, जिससे भगवानका

यथार्थज्ञान होता है, वह भक्ति है।

३. प्रभु–प्रदानरूपा भक्ति :

“ब्रह्मसूत्रमें “ **प्रदानवदेव तदुक्तम्** ।” (३–३–४३) – से भक्ति एवं सर्वात्मभावको प्रभुका प्रदान–वरदान जैसा – कहा है। साधनसाध्य वह नहीं है – कृपालभ्य है, जिससे स्वयं भगवान् प्राप्त होते हैं। अकुतोभय एवं सर्वत्र अभय अर्थात् रसात्मक पुरुषोत्ताम–प्राप्तिके बाद, पुरुषोत्तमके भजनानन्दानुभवके बाद, जो अभय होता है वह इस भक्तिके फलरूप होता हे। सर्वात्मभाव तो अनुभवैकवेद्य होनेसे, भक्तको इसका पूर्वज्ञान नहीं होने पर भी, इसकी इच्छा भी नहीं होने पर भी, भगवान् स्वयं ही कृपासे इसका दान करतें हैं। “**वरण**” के बिना इसका ओर कोई साधन होता ही नहीं है। इस लिये, जिससे रसात्मक पुरुषोत्तामका भजनानन्दनुभवजन्य अभय सुलभ हो ऐसा प्रभुका कृपा – प्रदान–भक्ति (सर्वात्मभाव) है। मर्यादाभक्ति एवं पुष्टिभक्ति भी भगवानकी कृपासे – प्रदानसे – ही मिलती है। वसुदेव – देवकीजीको भगवानने मथुरांके कारागृहमें कहा,–**युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् । चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥**”– श्रीभागवत (१०–३–४५). पुत्रभाव स्वतन्त्र–पुष्टि–भक्ति है, इसमें स्नेह होता है, वह शास्त्रोक्त नहीं है। ब्रह्मभाव वेदशास्त्रोक्त–मर्यादा–भक्ति है, इसमें चिन्तन होता है। दोंनोका भगवानने प्रदान किया है। पुष्टिभक्ति मुख्य होने से “**पुत्रभाव**” पहले

कहा, मर्यादाभक्ति गौण होनेसे “**ब्रह्मभाव**” बादमें कहा है। यहाँ लीलामें उभयकी आवश्यकता होनेसे भगवानने दोनोंका प्रदान किया है, नहीं तो एक ही देतें। पुष्टिभक्तिका फल है, – भगवान्! और मर्यादाभक्तिका फल है,– मोक्ष! ऐसे रसात्मक प्रभुका स्वरूपानन्दानुभव करानेवाला प्रदान भक्ति है।

४. शोक–मोह–भय दूर करनेवाली भक्ति :

श्रीमद्–भागवत तो भक्तिजनिका संहिता है। इसमें भी तो विविध अधिकारियोंके लिये विविध भक्ति–दर्शन व्यास महर्षिजीने कराया है। “**यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम–पुरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥**”–श्रीभागवत (१–७–७) श्रीभागवत–श्रवण करते ही परम पुरुष कृष्णमें शोक–मोह–भय को दूर कर देनेवाली भक्ति उत्पन्न होती है। उत्पन्न–भक्ति होनेसे, घरमें उत्पन्न हुए बालक की तरह, बढती रहती है, उत्तरोत्तर समर्थ होती जाती है, चली नहीं जाती है। प्रभुपरायण – पुरुष–प्रकृतिका जीव–भगवत्कार्यदक्ष–को यह फल होता है। उत्पन्न हुई भक्ति शोक–मोह–भयको हटा देती है। अर्थात् शोक–मोह–भयको हटादेनेवाली भागवत–श्रवणसे लब्ध, भक्ति है। यह तो सर्व सामान्यरूप है।

५ भगवानमें स्वाभाविकी वृत्तिरूपा भक्ति :

श्रीभागवतमें श्रीकपिलदेवजीने भी स्वमतानुसार भक्ति–स्वरूप बताया है। “**देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः**

स्वाभाविकी तु या ॥ अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसि । जरत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥" – (३–२५–३२,३३).

इन्द्रियाँ स्वभावसे दो प्रकारकी होती है, –१. देवरूप–दैवी, २. असुररूप–आसुर । जो वेदोक्त अलौकिक ही कर्म वा ज्ञानको उत्पन्न करे, वह देवरूप है । जो इन्द्रियाँ लौकिक – कर्मादिको उत्पन्न करती हैं, वह आसुररूप हैं । दोनोंकी आपसमें स्पर्धा रहती हैं । बलिष्ठ आसुर – इन्द्रियोंके कारण दैवी – इन्द्रियाँ स्वकार्य कर नहीं सकती हैं । येही आसुर–इन्द्रियाँ भी उपासनादिसे लौकिकादि दोषोंसे निवृत्त हो जाने पर, देवभावको प्राप्त करती है । तब कार्यसे ही देवरूप होती है । बहुजन्मोंके अभ्याससे ऋषियोंकी, देवोंकी, दैवीसंपत्में उत्पन्न होनेवालोंकी, इन्द्रियाँ देवरुप होती हैं । आसुर भी होती है । एक ही इन्द्रियस्थान (गोलक) में दैव–आसुर – दोनों इन्द्रियाँ रहती हैं । जो इन्द्रियाँ निषिद्ध अयोग्य–प्रवृत्तिसे ग्लानि प्राप्त करती है वह देवरूप है । जो इन्द्रियाँ निषिद्ध–अयोग्य–लौकिकमें अनुरागवाली हैं – आकर्षित होती है, – बलसे भी शास्त्रोक्त कार्योंमें लगाने पर भी संतुष्ट होकर इनमें लगती नहीं है,– वह आसुर–इन्द्रियाँ हैं ।

भक्ति तो इनमेंसे देवरूप इन्द्रियोंसे ही हो सकती है । आसुर–इन्द्रियोंसे भक्ति कभी भी शक्य नहीं ही है । रूपादि गुण ही इन्द्रियोंके लिङ्ग (निशानीयाँ–पहचान) है । जो देवरूप – इन्द्रिय है वह लय–विक्षेप–शून्य होती है । विक्षेप न होने से कार्यमें प्रवृत्तिसे स्पष्ट

उपलबध नहीं होता है, और भय न होनेसे पदार्थका ग्रहण नहीं करती हैं, ऐसा भी नहीं है । किन्तु रूपमात्रका ग्रहण चक्षु करता है, देखता है,–ऐसा करके चक्षु है,– ऐसा ज्ञात होता है । ये इन्द्रियाँ लोकमें तो जीवन –व्यवहारमात्रसे अपना अपना नियतकार्य करतीं हैं । जैसे कि पैर चलते हैं, आंख देखती हैं, कान सुनते हैं आदि । यह तो सब मात्र स्वाभाविक कार्य होता है, परंन्तु मुख्यतया सोद्देश तो इनका कार्य वैदिक – अलौकिक – ही होता है । जैसे कि कान गुरूपदेश वा कथादि सूने, आँख शास्त्र भगवद्दर्शनादि करें, इत्यादि । दैवसे – भगवत्कृपा वा प्रारब्धसे –जिन लोगोंकी इन्द्रियाँ ऐसी–दैवी–होती है, इनको ही भक्ति होती है । पूर्ववासनासे –अभ्याससे–ऐसी इन्द्रियाँ कर्म–ज्ञान–योगादि वैदिक – कर्ममें प्रवर्तमान होती हैं । इनकी भी(अगर) जब फलावस्था होती (तो), तब ही गुणातीत भगवानमें इनकी स्वाभाविकी वृत्ति – भक्ति – होती है । श्लोकमें "**सत्त्व**" –शब्द तो सांख्यमतसे कहा है । वस्तुतः तो भगवानकी सर्व सामग्री निर्गुण ही होती है, यह भगवच्छास्त्र–मत है । **दैवी–इन्द्रियोंकी निर्गुण भगवानमें स्वाभाविकी वृत्ति ही भक्ति है ।**

मन भी दो प्रकारका होता है, –१. दैव, २. आसुर । आसुरमन संकल्प–विकल्पात्मक, विविध–भावापन्न, गुणोंसे क्षुब्ध होता है । दैव –मन एक भावापन्न (एकाग्र)–मननात्मक ही होता है । इन्द्रियाँ तो उभयविध ही हो भी ! आसुरका कार्य ही बाधक होता है । मनसे तो (आसुर)–रूप नहीं होना चाहिये । ऐसा होनेसे

इन्द्रियाँकी स्वाभाविक वृत्ति नहीं होती । इस लिये जिसका मन एक भावापन्न (एकाग्र) है, इसको ही भक्ति होती है । अन्य लोगोंको तो कैसे भी की हुई भक्ति, भगवानमें खण्डशः वृत्ति, अक्षय होनेसे अनेक जन्मसे पुष्ट हुई भक्ति होती है । अंतिम जन्ममें भक्तिरूपा वृत्तिको प्रकट करती है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

यह वृत्ति तन्निष्ठता है, मनकी भगवानमें नैसर्गिक स्थिरता है, ग्रहण मात्र ही नहीं है । मन भगवानका ग्रहण (स्वीकार) मात्र न करे, परन्तु इसमें लगातार लगा रहे, वह वृत्ति है । यह वृत्ति भी औत्पत्तिकी जन्मतः–है, जैसे प्रह्लादजीकी वा अन्यभक्तोंकी । इतने दूर तक इस जन्ममें–साधन–साध्यता नहीं है, परंतु पूर्वजन्मवशात् ही ऐसा होता है । जन्मान्तर के व्यवधानसे पूर्वजन्मकी वृत्ति **“या”** शब्दसे श्लोकमें कही गई है , इसका परामर्श (विचार) किया गया है । जब फलरूप (अंतिम) जन्म होता है, तब वह वृत्ति कोई निमित्तरहित – अनिमित्ता, फलापेक्षा–वा कोई हेतु–रहित, होती है, स्वतंत्र होती है, अथवा भगवन्निमित्त होती है । भगवानके पाससे भी फलकी अपेक्षा रखना वह भी निमित्त हो जाता है । इसमें तो फिर अनिमित्ता तो कुछ रहा ही नहीं ! इसमें तो भगवानको भी साधन बना लिये और इच्छित वस्तुको फल ! आखिरमें यह तो निष्फल ही है । जो (वृत्ति) अनिमित्ता – फलापेक्षारहिता – है, यही भक्ति है ।

यह भक्ति यदि भागवती है, तो भगवानको ही

अपना विषय बनाती है । यह भगवद्भाव अथवा षाड्गुणरूपताको प्राप्त करती है; अथवा पहले सत्त्वरूप देव विष्णुमें वृत्ति होती है, यही जन्मान्तरमें भागवती –भगवान् श्रीकृष्णके संबंधवाली – होती है ।

उपनिषदोंमें पञ्चाग्निविद्यामें ज्ञानोपयोगी देहप्राप्तिका निरूपण है । निष्काम विहितकर्म करनेवाला अज्ञानी इस प्रकारसे ज्ञानयोग्य देह प्राप्त करता है । इस देह–प्राप्कि बाद ज्ञान जब होता है तब मुक्ति होती है । इस ब्रह्मविद्के (जीवित–म्रियमाण–बने रहे) व्यापार कहे गये है । सद्योमुक्तिमें भी सायुज्य कहा गया है । वह तो वस्तुतः भक्तोको ही होता है–, यह सिद्धान्त है । प्रकारान्तरसे प्राप्यकी अभिव्यक्ति न होने से यह सिद्ध होता है । तथापि सायुज्यमुक्तिसे भी यह भक्ति गरिष्ठ है । यह भक्ति लिंगशरीरको जीर्ण कर देती है । यद्यपि मुक्तिमें भी “कोश” –लिंगशरीर जीर्ण तो होता ही है, फिर भी भक्ति तो “आशु” –शीघ्र ही कर देती है । अनायास ही यह सब हो जाता है, – भक्तिसे ! जैसे कि खाया हुआ अन्न जठराग्नि से अपने आप – अनायास – पच जाता है, इसके लिये तो और कोई साधन है ही नहीं अगर औषध भी कुछ होते हैं तो वे भी जठराग्निको ही प्रदीप्त करतें हैं । एसी भक्तिसे भगवत्पदकी प्राप्ति होती है ।

श्रीकपिलदेवजीने आगे चलकर कहा है,– **“भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ।”**– (३–२५–३६) में, यह भक्ति भक्तकी अनिच्छासे भी उसको अणुगति–सायुज्य–देती है । इस फलनिर्देशसे

यह मर्यादाभक्ति है । वैकुण्ठ वा जीवन्मुक्ति भी आगे फलरूपसे कहतें हैं , इससे भी यह मर्यादाभक्ति ही है ।

६. माहात्म्य–ज्ञान–पूर्विका भक्ति :

प्रायः "नारदपंचरात्र" में, जो भक्ति – स्वरूप बतलाया है, वह "श्रीसुबोधिनी"में श्रीमहाप्रभुजीने भी संगृहीत किया है । "**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिक : । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥**" प्रभुके माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ और सबसे अधिक स्नेह प्रभुमें हो यह भक्ति है । इससे ही मुक्ति सुलभ है, ओर प्रकारोंसे नहीं । भगवानका विश्वकर्तृत्वादि–सामर्थ्य, भक्तों पर कृपा – प्रसंगादिसे भगवानकी महिमा समझमें आती है । वेदोंमें भी सृष्टिवाक्यादिसे तो माहात्म्यज्ञान होता है, और अपनी आत्माके रूपमें भी वही भगवान् है, – ऐसे निरूपण भी है, जिससे आत्मीयता – स्नेह होता है । इस प्रकार, माहात्म्यज्ञान से स्नेह सुदृढ एवं सर्वाधिक होता है । "**सुदृढ**" होनेसे कभी शिथिलता, अस्थिरता (डगमगाहट) नहीं आती हैं । "**सर्वाधिक**" होने से अन्यके प्रति आकर्षण वा अन्याश्रय नहीं होता हैं । इस तरहसें, वेदोंमें भी अर्थतः तात्पर्यनिर्धारसे भी भक्ति बताई है । वह कण्ठोक्त (स्पष्ट) भी है । वेदमें तो सृष्टि – कर्तृत्वादि माहात्म्यरूपसे दिखाई देते हैं । श्रीभागवतमें तो यह भी लीला ही है । जैसे कि, कोई महाराजा चल रहे हो, तो सामान्य जनता तो अहोभावसे ही उसको देखेगी, महिमा लगेगी ! परंतु महाराजाके लिये तो वह

केवल आसान वस्तु – लीला – ही है । इस तरह, श्रीभागवत तो सृष्टि – कर्तृत्वादिको लीला ही कहता है । इससे तो नितरां प्रेम होता ही है । सर्वरूप भगवान् आत्मरूप भी है ।- इससे भी माहात्मज्ञानपूर्वक सुदृढ और सर्वतोऽधिक स्नेह एवं भक्ति होती ही है ।

७. ईश्वरमें परानुरक्तिरूपा भक्ति :

"शांडिल्य–भक्तिसूत्र" में, "**सा परानुरक्तिरीश्वरे ।**" – (१–१–२) कहा है । वह (भक्ति) ईश्वरमें परम अनुराग है । यहाँ भी "**परानुरक्ति**" से सुदृढ और सर्वाधिक–स्नेह कहा है । जगतकी अन्य कोई भी वस्तु या व्यक्तिमें न हो, (वस्तु या व्यक्तिके प्रति न हो), ऐसा अनुराग पर–परम–श्रेष्ठ है । ईश्वर है,–फलदाता,–नियामक, शासन करनेवाला । "**कर्तुमकर्तुमन्यथा–कर्तुं समर्थः ईश्वरः**" है । करनेके लिये, न करनेके लिये और अन्यथा करनेके लिये (भी) जो समर्थ है वो ईश्वर है । – इस शब्दोमें सूचित है,– माहात्म्यज्ञान ! यही ईश्वर ब्रह्म–परमात्मा–भगवान् श्रीकृष्ण है । फलरूपमें अगर भगवान् स्वयं अपनी प्राप्ति करा दे तो पुष्टि है, अन्य फल–मुक्ति–आदि–अगर दें तो मर्यादा है । फलदान तो आखिरमें भगवानकी इच्छा पर ही निर्भर होता है । इनकी ईच्छा तो इनके जैसी ही सर्वतंत्र स्वतंत्र ही है । शासन करना तो ईश्वरका स्वभाव ही है ।

८. प्रकट प्रभुमें परम प्रेमरूपा भक्ति :

"नारद–भक्तिसूत्रमें"–"**सा त्वस्मिन् परमप्रेम–**

स्वरूपा ।”– (१–२)–कहा है । वह (भक्ति) तो इस (भगवान्) में परम प्रेम – स्वरूपा है । “**तु**”–तो –शब्दसे अन्य–सर्वलक्षण–प्रकार–स्वरूपादिका निषेध एवं व्यावर्तन करते हैं । ओरोंकी जो भी कुछ मान्यता, भक्ति–लक्षण वा स्वरूपके विषयमें, होगी सो होगी, यह सूत्रकार तो सबका निषेध वा निरास वा खंडन वा त्याग, करते हुए, स्पष्टता–पूर्वक निर्भयतासे अपनी बात सुदृढतासे कहते हैं, – (प्रकट प्रभुमें) परम प्रेम ही भक्तिका स्वरूप है । परम सर्वोत्कृष्ट तो है ही । परंतु यहाँ तो यौगिक–शब्दार्थ–पक्ष भी अभिलषित है । “**परः परमात्मा मीयते ज्ञायते प्राप्यते अनेन इति परमः ।**”–परमात्मा जिससे ज्ञात हो वा प्राप्त हो वह परम है । साधारण–संबंध –कोटिका प्रेम नहीं, परंतु जिससे भगवानका यथार्थ ज्ञान हो एवं प्राप्ति हो, ऐसा प्रेम, परम प्रेम है, वही भक्ति है । और ऐसे भक्ति प्राप्य भगवान् भी अव्यक्त या दूर नहीं ही हैं । प्रत्यक्षाता–दर्शक शब्द–“**अस्मिन्**”–इसमें – है, इससे भगवान् (इस सूत्ररचनाके समय) सूत्रकारको प्रत्यक्ष हैं । भक्तिके सूत्र है, प्रकट(भक्तिका) प्रभाव है, (भक्तिका) फल (भगवान्) भी निर्दिष्ट कर दिया,–“इसमें” दर्शक–सर्वनामका यह प्रयोग संयोग भगवानका दिखाता है । प्रकट प्रभु ही भक्तिका फल है । यही है,–पुष्टिभक्ति । पुनः सूत्रकार,– “**अमृतस्वरूपा च**”–(१–३)–“और अमृतरूपा है ” – कहते हैं । समुच्चयवाचक “**च**”कारसे भगवत्प्रियादि–रूप भक्तिके हैं, इन सबका संग्रह है । अमृत दीर्घ–जीवन देता है, भक्तिरूप अमृत दिव्यजीवनप्रद है । अमृतसे श्रम–वार्धक्य–मरणादि देहधर्म निवृत्त हो जाते हैं । अमृत–स्वरूपा भक्ति उद्वेग–क्लेशादि अंतःकरण दोषोंको भी निवृत्त कर देती है । यह अमृत पीनेवाला तो भगवानके लिये ही जीता है, भगवदीय ही होता है।

९. प्रेम–पूर्विका सेवारूपा भक्ति :

“**भक्ति**”–शब्दका यौगिक – अर्थ देखे तो, “**भज् सेवायाम्**” धातु (क्रियापद) है, “**क्तिन्**”–प्रत्यय प्रेमार्थक है,–स्त्रीलिंगमें है । यह सब मिलाके अर्थ होता है, भगवानकी वशमें रहकर, प्रेमपूर्वक भगवानकी सेवा करना ही भक्ति है । स्त्री जैसे अपने पतिकी वशमें रहती हे, ऐसे भक्त स्वपति भगवानके वशमें रहता है । सेवा प्रेमपूर्वक करना है । वह भक्ति है ।

१०. भगवानके भागमें रहना–भक्ति :

भक्ति–शब्दका अर्थ विभाग भी होता है । – “**હું હરિનો**–” “मैं प्रभुका हूँ ।–”,“–**तवाऽस्मि**”–“हे कृष्ण ! मैं आपका हूं ।” –, कहते हुए, और हृदयमें ऐसी सन्निष्ठा करते हुए, प्रभुके (स्वजन, निजजन) बन जाना, संसारके भागमें न रहकर, प्रभुके विभागमें रहना, यह भक्ति है ।

११. स्वगौणता – रूपा भक्ति :

“**भक्ति**”–शब्दका अर्थ गौणवृत्ति भी है । अभिमान रहित होकर, किसीभी विषयमें अपनी मुख्यता न रखकर, अपने प्रभुकी ही मुख्यता और अपनी गौणता

रखकर, अपनी आजीविका (नौकरी–धंधा–व्यवहार–आदि)को भी गौण बनाकर, भगवत्सेवा–कथादिकी ही मुख्यता करना, “दासोऽहम्”–“(प्रभुका)मैं दास हूँ,” – एसी भावनासे जीनेवाला अपनेको गौण ही मानता है, एसा ही जीवन–व्यवहार रखना भक्ति है ।

१२. भगवान् जिसका फल है, वह भक्ति :

“भक्तिहंस”में श्रीगुसांईजी आज्ञा करतें हैं,– **“भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वम् । भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्”** । भगवत्स्वरूपके (सिवाय) बिना (और कुछ भी) जिसका फल है, ऐसे कर्म या ज्ञानमें भक्तित्व नहीं है, और भक्तिमें भगवत्स्वरूपके बिना (ओर कुछ भी) फलरूप नहीं है । अर्थात्, भगवान् जिसका फल है, वही भक्ति है । जिससे भगवान् मिले वह भक्ति ।

१३. शास्त्रमें भक्तिके विविध–निरूपण :

प्रभुकी प्रिया–भक्ति, मुक्तिदासीवाली–भक्ति, भूतलमें छाया–रूपा–भक्ति, ज्ञानकी पुत्री–भक्ति, ज्ञान वैराग्यकी माता–भक्ति, भक्तिकी पुत्री–भक्ति, मत्संगकी पुत्री–भक्ति, सर्वपापनाशिका–भक्ति पंचम–पुरूषार्थ रूपा–भक्ति, ब्रह्मज्ञानीके फलरूपा–भक्ति, परमहंसों को भी दुर्लभ–भक्ति, सर्वोध्दार–परायणा–भक्ति, सत्पुरूषोंकी आदृत–भक्ति, महापुरुषोंको भी विमृग्या–भक्ति, भगवानमें अनन्यतारूपा–भक्ति, सगुण–भक्ति, निर्गुण–भक्ति; **“गीतागुंजन”** – ग्रंथमें सविस्तर निरूपण है ।

१४. नवधा भक्तिमें कर्म– ज्ञान–उपासना–भक्ति–मार्गीय प्रकारः

भक्ति नवप्रकारकी कही गई है । **“श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥”** – श्रीभागवत (७–५–२३)– भगवानका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन; परंतु यह नव प्रकार भी अधिकारिभेदसे किये गये हुए कर्म–ज्ञान–उपासना–भक्ति–मार्गीय होते हैं । इसमें, धर्म–अर्थ और काम–रूप फलके उद्देशसे किये गये हुए श्रवणादि **कर्ममार्गीय** है । यह भी त्रिवर्ग(धर्म–अर्थ–काम–पुरुषार्थ)की इच्छासे शास्त्रोक्त – विधानसे करे तो ही **कर्ममार्गीय** है । आजीविकादिके लिये (धंधाके रूपमें) अगर करे तो वह तो खेतीकी तरह **लौकिक** ही है । कोई मार्ग ही नहीं है इसमें तो; जो कहीं भी पहूँचावे वा कुछ फल प्राप्त करावे । शौचादिमें गंगाजलका उपयोग जैसे मलनिवृत्ति ही करता है, निषिघ्दाचरणसे दोष भी लगता है । इस प्रकार, वृत्त्यर्थ श्रवणादि करनेसे केवल आजीविकादि मिलतें हैं और (विक्रय) दोष भी लगता है । वैदिक – शास्त्रीय – कर्म तो साङ्गोपाङ्ग करनेसे ही फलोदय होता है, केवल करने मात्रसे नहीं । चतुर्थाश्रम (संन्यस्त)में ज्ञानोदयके कारणभूत, चित्त शुद्धिके कारणरूप, किये हुए श्रवणादि **ज्ञानमार्गीय** है । साक्षात् मोक्ष – साधनरूपतासे (दक्षिण) तान्त्रिक – दीक्षापूर्वक किये हुए श्रवणादि

उपासना–मार्गीय है । विष्णुनिष्ठासे पञ्चरात्रादि – संमत गुरुकृपा–लब्ध दीक्षासे यह **वैष्णवमार्ग** भी कहलाता है । भगवत्प्रीत्यर्थ की हुई नवधा भक्ति से होती है,– प्रेमलक्षणा भक्ति ।

१५. प्रवाह–मर्यादा–पुष्टि–(मार्गीय)–भक्ति :

भक्तिमार्गीय भक्तने किये हुए, भक्ति साम्प्रदायिक – दीक्षा–पूर्वक, मोक्षके साधनरूप, श्रवणादि **प्रावाहिक–भक्ति** हैं । प्रेमात्मक–भक्तिके साधनरूप किये हुए श्रवणादि **मर्यादा – भक्ति** है । (भक्तिरूप) स्नेहकी उत्पत्तिके बाद, अपने व्यसनसे – स्वतंत्र पुरूषार्थ रूपसे, किये हुए श्रवणादि उत्तम है,– **पुष्टि – भक्तिरूप** है । भक्ति – शब्दका मुख्यार्थ तो **“स्नेह”** ही है । श्रवणादिमें, भक्तिके कारण होनेसे, भक्ति–शब्दका प्रयोग (श्रवणभक्ति – आदि) गौण है । स्नेहवशतासे किये हुए श्रवणादि ही **भक्तिमार्गीय** है ।

भक्तिवालोंके उपदेशानुसार भक्ति–प्रवृत्ति :

स्नेहरहित लोगोंको तो स्नेहयुक्त लोंगोके उपदेशानुसार ही भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये । स्नेहोत्पत्तिके बिना ही भक्तिमार्गमें जो प्रवृत्त है, ऐसे लोगोंको तो स्नेहकी मर्यादानुसार ही भक्ति – रीति रखनी–सिखनी – चाहिये । जैसे द्विजके बच्चेको यज्ञोपवीत–संस्कारसे, विधि न जानने पर भी, पितादिके मार्गदर्शनानुसार सन्ध्यावन्दनादि–कर्म करने चाहिये, इससे भी बच्चेकी **कर्ममार्गीयता** है; ऐसे ही, स्नेहरहित भी अगर स्नेहवालेके मार्गदर्शनानुसार भक्ति करता है

तो आगे चलकर उसको प्रभुमें अवश्य स्नेह होगा, ऐसी कृतिमात्रसे भी **भक्तिमार्गीयता** है । ऐसा भजन भी पुरुषोत्तमको प्राप्त कराता है । आधुनिक उपदेशकोंमें यदि स्नेह नहीं है, फिर भी मार्गके मूलभूत आचार्यमें तो है ही, इनके अनुग्रहसे सब यथार्थ फलित होता ही है । प्रेम तो फलरूप होनेसे स्वसाधन–कृति–से साध्य नहीं है, इसलिये शास्त्र–विहितत्व तो संभव नहीं है, परंतु इसका अनुवाद मात्र ही (साधनरूपतासे) शास्त्रमें होता है । जैसेकि,–**“य एतस्मिन्महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः...।”** – **श्रीभागवत (१०–९–१८), “माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु –।”** –पंचरात्र, **“देवानां गुणलिङ्गानां...।”**–श्रीभागवत (३–२५–३२). **पुष्टिभक्ति या मर्यादाभक्ति भी प्रभुप्रदत्त होती है,**

मर्यादाभक्ति हो या पुष्टिभक्ति – मिलती है,– भगवानकी कृपासे, भगवानके प्रदानसे । **“युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ।”** – श्रीभागवत (१०–३–४५) में ,भगवानने अपना प्रमेयबल प्रकट करके, शास्त्रको गौण करके, भक्ति दी है । अविहित स्नेह – स्वतंत्र – पुष्टि भक्ति–से पुत्रभावसे और विहित स्नेह–मर्यादा – भक्तिसे ब्रह्मभावसे, चिन्तनसे, स्नेह करके व्यापि–वैकुण्ठरूप गति प्राप्तिका वरदान वसुदेव–देवकीजीको दिया है । माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेह दोनों प्रकारमें समान है । ब्रह्मभाव या पुत्रभावमें विषय तो भगवान् ही है । इस लिये प्रकार अप्रयोजक है, – गतिकी प्राप्तिमें ! ऐसी भक्ति अगर भगवान् न दे, तो कहीं पर भी ऐसा भाव होता

ही नहीं है ।

भगवान् और जीवका परस्परका प्रेम है,–पुष्टिभक्ति ! :

जीव तो भगवानका चिदंश है । ज्ञान उसका धर्म है, प्रेम नहीं । “**प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः** । – श्रीसुबोधिनी (२–२–६)–प्रीति तो आनन्दरूप भगवानका धर्म है । इसलिये भगवान् जब प्रदान करें तब ही जीवको भक्ति–प्रेम–मिले, अन्यथा संभव ही नहीं है । जिस जीवको भगवान् चाहे उसको भक्ति का दान करें । अर्थात् भगवान्, जीवके साधन, – पात्रतादिकी ओर देखे बिना ही, स्वेच्छासे कृपा करके वरणसे जीवके साथ प्रेम करें, जीवको अकारण प्रेमका दान करें , यह **पुष्टि** है; और जीव भी यही अकारण प्रेम भगवानके साथ करें, प्रतिबिंबकी तरह वापस लौटावे, यही **भक्ति** है । दोनों मिलके, भगवान् जीवके साथ प्रेम करें, जीव भगवानके साथ प्रेम करें, यह परस्परका अकारण प्रेम है,– **पुष्टिभक्ति** । स्वरूप एवं प्रकार इसका कुछ भी हो दास्य – वात्सल्य–सख्य–माधुर्यादि ।

भगवानके विचारानुसार ही जीवका मार्ग एवं फल–व्यवस्था :

“अणुभाष्य” (३–३–२९) में, सुस्पष्ट है,– “**भगवान् सृष्टिपूर्वकाल एवैतस्मै जीवायैतत्कर्म कारयित्वैतत्फलं दास्य इति विचारितवानिति तथैव भवति । ..... एवं सति कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते । ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिर्मर्यादा । तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरुच्यते । तथा च यं जीवं यस्मिन्मार्गेऽङ्गीकृतवाँस्तं जीवं तत्र प्रवर्तयित्वा तत्फलं ददातीति सर्वं सुस्थम्** ।”

भगवानने सृष्टिके पूर्वकालमें ही विचार कर रखा है कि, इस जीवको इस कर्म कराकर इस फल में दूँगा, ऐसा ही होता है ।... भगवानकी यह इच्छा (विचार) कार्यकारण – भावमें नियामिका होनेसे, (जीव) कृतिसाध्य साधन ज्ञान – भक्ति–रूप शास्त्रसे कहा जाता है । उस शास्त्रोक्त ज्ञान–भक्तिसे मुक्ति मिले, यह **मर्यादा** है । ऐसे ज्ञान–भक्ति–आदि साधना रहितको भी स्वरूपबलसे भगवान् अपनी प्राप्ति करावें, इसे **पुष्टि** कहते हैं । और जिस जीवका जिस मार्गमें भगवानने अंगीकार किया है उस जीवको वहाँ ही प्रवृत्त करके वह फल भगवान् देतें हैं, इस प्रकार से सब व्यवस्था है ।

पुष्टिभक्तकी दोषनिवृत्ति हृदयस्थ भगवान् स्वयं कर देते हैं :

मर्यादा – भक्तिमार्गमें श्रवणादिसे पापक्षय होते ही प्रेमोत्पत्ति होती है, बादमें इससे मुक्ति मिलती है । पुष्टिभक्ति – मार्गमें अङ्गीकृति अनुग्रहसाध्य है । इस लिये इसमें पापादि प्रतिबंधक नहीं होनेसे श्रवणादिरूपा और प्रेमरूपा भक्ति एक ही साथमें अथवा पौर्वापर्यसे अथवा वैपरीत्यसे भी होती ही है । यहाँ तो श्रवणादि भी फलरूप ही हैं । स्नेहसे ही श्रवणादि होने से

विधिविषय नहीं हैं । अंगीकृत भक्तमें विपरीत–कर्मादि (अधर्म) कैसे भी आ जाय तो इसके हृदयमें विराजमान भगवान् ही उन दोषोंको दूर कर देते हैं । कभी सदोष–जनको भी स्वभक्ति–बलस्फूर्तिसे, कृतार्थ करनेके लिये, भक्त अंगीकार करें ; तो उसके हृदयस्थ भगवान् इस संसर्गोत्पन्न दोषको भी दूर कर देतें हैं । दीर्घकाल–भोग्यकर्मको भी तत्क्षण ही नष्ट कर देतें हैं । ऐसे नाशमें काल–कर्म–स्वभावादि प्रतिबंधक नहीं होते हैं , क्योंकि भगवान् सबके स्वामी हैं ।

सच्चिदानन्दरूपका रूपनाम–विभेदसे जगद्रूपमें क्रीडनः भगवदंशका जीवरूप होना :

भगवान है, – सच्चिदानन्दरूप ! एक और अद्वितीय सर्वसमर्थ ब्रह्मने स्वलीलार्थ –स्वेच्छासे (उच्चनीचादि) अनेक रूप होना चाहा । शासन करना, उनका स्वभाव है । स्वामित्व उनमें स्वाभाविक – सिद्ध है । आप ही स्व–सर्वभवन – सामर्थ्यसे अनेकरूप हो गये । **सच्चिदानन्द ब्रह्मके** सदंशसे **जड** पदार्थ हुए । उनमें चित् और आनन्द तिरोहित रहते हैं, होते हुए भी अनुभव नहीं देते हैं । चिदंशमेंसे **जीव** प्रकट होते हैं, उसमें आनन्द तिरोहित है । प्रत्येक जीवके साथ हृदयमें नियामक – साक्षी **अंतर्यामी** सच्चिदानन्दरूप होता है । जड–जीव और अन्तर्यामी ऐसा त्रिधा व्यवहार है, परमार्थतः तो ब्रह्म ही जगद्रूपसे क्रीडा कर रहा है, रूप–नाम विभेदसे जो क्रीडा करता है, रूप–नाम विभेदसे जो जगद्–रूप है, रूप – नाम

जिससे जगत् है, यह भगवान् विभेदसे कृष्ण है । जो जगद्–रूप है, रूप–नाम विभेदसे जितने भी रूप–नाम–कर्म हैं, वह सब ब्रह्मके ही हैं । **ब्रह्म** जब अपने अंशोंको व्युच्चरित करता है, तब वह **परमात्मा** होता है, – सब अंशरूप आत्माओंका स्वामी यही आत्माओंमेंसे यही परमात्माकी – लीलार्थ – इच्छासे आनंदांश और छः ब्रह्मधर्म तिरोहित हो जातें है,पुनः अविद्याके संबंधसे मोहित वह लौकिक कामनामय हो जाता है, – **“जीव”** हो जाता है **“जीवु प्राणधारण–प्रयत्ने”**–धातुपाठसे, वह प्राणधारणके लिये ही प्रयत्न – परायण हो जाता है । भगवदर्थ–प्रयत्न अब वह बेचारा कैसे करे ?!

“पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।” – “ब्रह्मसूत्र”–(३–२–५)के “अणुभाष्य”में स्पष्ट निरूपण है इसका । जीवके (पुरुषार्थके) लिये भगवान् सृष्टि करतें हैं, दिखाते हैं सर्वलीला । जीव तो **ब्रह्मका** अंश है, फिर भी दुःखी होता है । उस जीवके ऐश्वर्यादि भगवानकी भोगेच्छासे, तिरोहित हो जाते हैं । **ऐश्वर्य**–तिरोभावसे दीनत्व–पराधीनत्व होता है । **वीर्य**–तिरोभावसे सब–दुःख सहन करने पडते हैं । **यशः** के तिरोधानसे सर्वहीनता होती है । **श्रीके** तिरोभावसे जन्मादि–सर्व आपत्तियाँ भोगनी पडती है । इस चारसे बन्धन होता है । **ज्ञान** तिरोभावसे देहादिमें अहंबुद्धि, सर्व विपरीत–ज्ञानादि, अहंता–ममतादि, होते हैं । वैराग्यके तिरोधानसे विषयासक्ति होती है । इन दोनोंसे विपरीतता होती है । भगवद्विमुखता होती है ।

भगवद्धर्म–तिरोभावसे ही ऐसा होता है, अपने आप नहीं। एक भी भगवद्धर्मका एकांश भी अगर प्रकट हो जाय तो ऐसा नहीं होता है। आनन्दांश तो पूर्वसे ही तिरोहित होनेसे जीवभाव होता है। इससे ही लौकिक सुखकामनावाला जीव हो जाता है। आनन्द तो अकामरूप है। ऐसा तिरोभाव न हो तो भगवानकी ऐश्वर्यादि लीला निर्विषया हो जाय। ऐसे, दुःखी जीव, भगवदिच्छासे ही, तिरोहित धर्मोको पुनः स्वेच्छासे कैसे प्राप्त करें ? जीवोंके सर्व दुःख–निवारणार्थ यही **परमात्मा** अपने षड्गुण प्रकट करके पधारते हैं, अवतरित होते हैं। **भगवान्** इसे कहतें हैं **ब्रह्म–परमात्मा–भगवान्** यह शब्दभेद है, तत्त्वभेद नहीं है, वस्तुभेद नहीं है। भगवान् एक ही होने पर भी लीलाभेदसे अनुभवभेद होता है, यथाधिकार जीवको प्रभु अनुभव देते हैं।

प्रवाह–मर्यादा–पुष्टि–सृष्टि :

जीवके व्युच्चरणके समय ही उसके लिये भगवान् कर्म–फलादि अपने विचारसे नियत करतें हैं, ऐसा ही जीवको फलित होता है। भगवान् अपनी लीला करनेकी इच्छासे अपने मनमेंसे **प्रवाह–सृष्टिके** जीवोंको प्रकट करतें हैं। वे सब अपने मनके अनुसार जीनेवाले होते हैं। प्रायः भोगपरायण होते हैं जन्म, मरणमें धूमते रहतें हैं। भगवान् अपनी इच्छासे वाणीमें से **मर्यादा–सृष्टिके** जीवोंको प्रकट करतें हैं। वे सब वेद–शास्त्रकी मर्यादानुसार जीनेवाले होतें हैं।

मोक्षावधि फल पाते हैं। भगवान् अपनी इच्छासे अपनी कायामें से **पुष्टि–सृष्टिके** जीवोंको प्रकट करते हैं। ये सब भगवत्स्वरूपानूकूल – स्वरूपसेवा –परायण रहते हैं। स्वयं भगवान् ही इनका फल होता है। प्रायः, प्रवाह – सृष्टिका एक प्रकार – विशेष है – **चर्षणी – जीव। "चृष् प्रजननैष्ययोः।"** – धातुपाठसे, इन्द्रिय – भोगरत, ऐशारामी लोग वे हैं। उन लोंगोंकी कहीं भी स्थिर रूचि नहीं होती है; जैसा संग–प्रसंग ऐसे वे हो जाते हैं; सर्वत्र भटकतें हैं। उनकों क्रियानुरूप खंडशः फल होता है, फलके टुकडे मिलतें हैं।

पुष्टिसृष्टिके चार प्रकार : बीजभाव :

पुष्टिसृष्टिके जीव चार प्रकारके मानें गयें हैं। १. **प्रवाह–पुष्टि** – ये (भगवत्) क्रियारत होते हैं। २. **मर्यादा – पुष्टि** – ये (भगवद्) गुणज्ञ होतें हैं। ३. **पुष्टि–पुष्टि** – ये (भगवत्संबंधी) सर्वज्ञ होते हैं। ४. **शुद्ध–पुष्टि** – ये(भगवत्) प्रेमपूर्ण होतें हैं, अतिदुर्लभ होतें हैं। भगवानने जीवोंके व्युच्चरणके समय जिसके लिये जो चाहा होता है, ऐसा अनुग्रह – बीजभाव ही उस जीवमें रहता है। यही बीज (भाव) अंकुरित होता है, – योग्य पोषणादिसे, और फलित होता है। जिस जीवमें यह पुष्टि–भक्ति–बीजभाव होता है इसको ही पुष्टिफल प्राप्त होता है।

पुष्टिभक्तका फल,– प्रकट भगवान् ! :

आनन्दमय शृंगाररसरूप श्रीकृष्णका संयोग–वियोग–का अनुभव :

पुष्टिभक्तिका फल है, – स्वयं प्रकट भगवान् ! स्वयं भगवान् है – श्रीकृष्ण ! भगवान् अपने कार्यके लिये किसीमें अपना धर्म–सामर्थ्य कार्यकाल तक स्थापित करें – ये सब **अनित्य (अध्रुव)** भगवान् कहे जातें हैं, ऐश्वर्य , वीर्य, यशः श्री, ज्ञान वैराग्य ये छ : गुण – धर्मको **"भग"** कहते हैं । यह भग–वालाको **"भगवान्"** कहते हैं । ऐसे अनेक **नित्य (ध्रुव) भग** केवल स्वयं भगवान् श्रीकृष्णमें हैं । परब्रह्म, परमात्मा, स्वयं नित्य भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । श्रुतिमें एवं महाभारतके उद्योगपर्वमें,–**"कृषिर्भूवाचको शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥" "कृष्"** – सत्तावाचक है, **"ण"**–आनंन्द–सुख–वाचक है, कृष्ण सदानन्द है । ब्रह्म–सूत्रमें, – **"आनंन्दमयोऽभ्यासात् ।" "विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात् ।"**– (१–१–११,१२) इनको आनन्द प्रचुर कहें हैं । **"आनन्दमात्रकर– पादमुखोदरादिः"** – सर्वांग–आनंदमय, आनन्दघन ये हैं । **"श्री"**–शब्द साकारतासे सौन्दर्यवाचक है । अर्थात्, अपना स्वगत परमकाष्ठापन्न सौन्दर्य प्रकट करके आनन्दप्रचुर स्वयं परमात्मा भगवान्–परब्रह्म श्रीकृष्ण प्रकट हुए । सारस्वत–कल्पमें यह पुष्टिपुरुषोत्तम – लोकवेदातीत पुरुषोत्तम – प्रकट हुए – ब्रजमें । जो अभी श्वेत–वाराहकल्पमें भी प्रकट हुए माने गये हैं । तैत्तिरीय श्रुतिमें (२–७) **रसो वै सः"** – से इनको **"रसात्मक"** कहें हैं । श्रीभागवत–(१–२१–५)में **–बर्हापीडं...."** कहते हुए इनको **"रसमत्त"** कहें हैं । यह रस है – शृंगार" शृंगारको ही शुचि – (पवित्र) उज्जवल–(निर्मल, प्रकाशित) कहा है –"अमरकोश" में शृंगारके दो दल मानें गयें हैं – १. **सयोग,** २. **वियोग.** श्रीकृष्णका अनुभव संयोग और वियोग दोनों प्रकारसे हो तब ही पूर्णानुभव पूर्णानन्दका होता है । रासादिमें श्रीगोपीजनको संयोग–वियोग दोनों अनुभव भगवानने करवाये हैं । संयोग–वियोगका चक्रक्रम अखंड चलता रहता है । इसमें सदा रसमग्नता भक्त और भगवानकी रहती है ।

श्रीगुसांईजीको संयोग–वियोगानुभव–लीला :

श्रीविट्ठलनाथजी – श्रीगुसांईजी–श्रीप्रभुचरणको भी लीलाप्रसंग–शापादिसे; और शृंगार रसात्मक स्वरूप ही स्वभावतः संयोग–वियोगात्मक होनेसे, सेवामें संयोगानुभव करातें हैं भगवान्; और विप्रयोगका भी अनुभव छः मास तक कृष्णदासके पूर्वोक्त–प्रसंगको निमित्त बनाकर श्रीकृष्णने करवाया । भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रीवल्लभाचार्यजी श्रीमहाप्रभुजीके चंपारण्यमें प्राकटय के साथ ही श्रीगोवर्धन–पर्वतमेंसे प्रकट हुए थे । इन्होंने आज्ञा करके श्रीमहाप्रभुजीको ब्रजमें बुलाकर **"देवदमन–"** नामसे अपना प्राकट्य–स्थापन–सेवारंभ करवाया । सूत्रात्मिका – सूक्ष्म – सेवा – प्रकार

आपने आरंभ किया । आपके द्वितीयपुत्र श्रीगुसांईजीने भाष्यात्मिका – विस्तृत–सेवा प्रकार बनाया । अकबर बादशाहने आपको श्रीगोकुलमें गायें चरानेकी संमति एवं **“गोस्वामी”** पद दिया था । अपभ्रंशमें हो गया **“गुसांई”**, ! स्नेहवश समादरसे **“गुसांईजी“** आप कहे जाते हैं ।

विप्रयोगमें विज्ञप्ति :

श्रीचन्द्रसरोवर जो सारस्वत–कल्पका वृन्दावन है, रासस्थली है, वहाँ आप विप्रयोग–दशामें बिराजे । विरहके तीव्रसंतापके प्रतापसे दीनतासिञ्चित प्रणय–परिताप प्रगाढ हृदयभाव शब्द – शरीरसे स्वाभाविक प्रकट हो गया । **“मनसः दूती त्वमसि”**–वेदमें वाणीको मनकी दूति – संदेशवाहिका – कही है । मनमें जो होता है इसकी विशेष स्पष्ट अभिव्यक्ति वाणीसे ही होती है । हृदयस्थ भगवद्भाव–दासभाव–तापभाव–स्वामिनीभाव–दीनभाव वाणीमें व्यक्त हो गया । स्वामीको तो सेवक **“विज्ञप्ति”** ही कर सकें । आर्द्रता और आर्तता इसमें उत्कटताके साथ त्रिवेणी रूपमें विराज रही हैं । ऐसी नव **“विज्ञप्ति”** श्रीगुसांईजीकी प्रसिद्ध है । श्रीगोकुलनाथजी की १ तथा श्रीहरिरायजीकी भी ५ **“विज्ञप्ति”** है । भगवद्रूप श्रीगुसांईजी निजजन–शिक्षार्थ भी यह संयोग–विप्रयोगानुभव–रूपा लीला ही प्रकट कर रहें हैं ।

यह “विज्ञप्ति”–विशेषता :

“विज्ञप्ति” में स्वहृदय–संवेदनकी **विशेष प्रकारसे ज्ञप्ति**–ज्ञान समज – घोषणा – है, स्वहृदय–भाव स्वप्रिय प्रति प्रकट हो जाता है । यह भावमें केवल स्वहृदयकी भावावस्था के संवेदन का निवेदन मात्र ही होता है । हृदयमें उठते हुए भावतरंगमें कोई व्यवस्थित क्रम नहीं होता है । समुद्रकी ऊर्मिमाला कुछ क्रमबद्ध होती है । तरङ्गे इसमें, एक के पीछे एक, ऐसा कोई सामान्य क्रमसे चलती रहती हैं, जलप्रवाहका सातत्य रहता है । यहाँ; वाक्प्रवाहमें सातत्य होते हुए भी हृदय – भावतरंग तो बहता है, परंतु एकसूत्रता इसमें नहीं रहती है, समग्र श्लोक–संकलनसे कोई कथा – प्रसंग–सातत्य नहीं रहता है । रहता है,–केवल उत्कटभाव–सातत्य ! इस सतत उमडता हुआ उत्कट – संतप्त–भाव अपनी स्वतंत्रशैलीसे ही प्रकट होता है । विशेष – नियमोंसे उसे बांधा नहीं जाता है । यह तो होता है, स्नेह–संतप्त–स्वैर ! स्वैरविहारमें संयम क्षुल्लुक लगता है, नियम निम्नकोटीका लगता है ! स्वैरविहारमें स्वच्छन्द होते हुए भी सुमधुर–सुकुमार–सुमङ्गल–हृद्य हृदयानुभूति होती है ।

हृदयसे उमडता हुआ यह भावप्रवाह स्वैरविहारसे सामनेवालोंके हृदयमें प्रविष्ट हो ही जाता है । एक हृदयसे निकली हुई बात दूसरे हृदयमें घूसकर हृदयारूढ हो जाती है । भिगा हुआ कपडा जैसे अपने संसर्गसे कोरे कपडे को भी भिगा देता है इस तरहसे,

आर्द्र–भावुक–स्नेहसंतप्त हृदय(भाव) भी अपने संपर्कमें आनेवालेको आर्द्र–भावुक– स्नेहसंतप्त बना ही देता है । महापुरुषोंके हृदयभाव आपकी वाणीके माध्यमसे कृपापात्रोंके हृदयमें प्रविष्ट होकर आरूढ हो जाते हैं । श्रीगुसांईजीका विप्रयोगार्द्र हृदयभाव यह “**विज्ञप्ति**” द्वारा कृपापात्र वैष्णवके हृदयमें घूस जाता है, हृदयसिंहासन पर आरूढ हो जाता है ।

कृपापात्र वैष्णवको ही यह कृपाफलकी अनुभूति होती है । कृपापात्रका हृदय ही इसके धारणमें फलनमें क्षम होता है, सबका नहीं । कुंभनदासजीने प्रगाढप्रेमसे चन्द्रसरोवर पर मालीकी आम श्रीनाथजीको आरोगाई, यही प्रसादी ब्राह्मण और राजपूतको मिली । स्वप्नमें दर्शन तो श्रीनाथजीके उभयको हुअे । परंतु ब्राह्मण दैवीजीव नहीं था, इसलिये दर्शनकी असर खास न हुई, उसने सामान्य स्वप्न ही मान लिया ! राजपूत दैवीजीव था । स्वप्नदर्शन मात्रसे हृदय उमडने लगा । श्रीनाथजीके साक्षाद् दर्शनसे सेवक होकर कृतार्थ हो गया । प्रसादी आम तो दोनोंने खाये, स्वप्नदर्शन दोनोंको हुए, परंतु फल तो सुपात्र दैवीजीव राजपूतको ही हुआ । इसी तरहसे, महापुरुषोंके हृदयभाव–वैभवको वहन करनेवाली वाणी, शायद सबको सुलभ हो जावे तो भी, फलित तो होती है, – सुपात्रको ! – कृपापात्रको !

कृपामें तो कोई भी कारण होता नहीं है । कृपापात्र बननेमें कोई साधन – संयोग – गुण – सहाय – पात्रता– आदि अपेक्षित नहीं ही है । कृष्णकी इच्छा – मात्रसे कृपा हो जाती है । कृपापात्रके हृदयमें ही महापुरुषोंकी वाणी स्थिर होती है, फलित होती है । महापुरुषोंके हृदयभाव कृपापात्रोंके हृदयमें आरूढ हो ही जाते हैं । कृपापात्रोंकी यही तो पहचान होती है । पात्र तो विश्वमें अनेक हेतुसे अनेकविध होंगे, परंतु कृपापात्र तो कोई विलक्षण हेतुसे विलक्षण ही होते हैं । हृदयकी संवेदनशीलता, भावधारणा, उत्कंठा, उत्कटता, भावारूढता होती है,– हृदय–भावानुरूप–कृपापात्रोंमें !

“**विज्ञप्ति**”के द्वारा श्रीगुसांईजीकी हृदयभाव – समृद्धि कृपापात्रके हृदयमें प्रविष्ट होकर आरूढ हो जाती है । यह भगवद्भावसे – भगवदीयत्वसे – अधिक फल क्या हो सकता है ?! भगवदीयत्वसे ही सर्वपुरुषार्थ परिसमाप्त हो जातें हैं । भगवान् स्वयं स्वतः भावपूरित भगवदीयोंकी भाववशतामें आ जातें है, भक्तपराधीनता स्वीकार लेते हैं । भगवान् और भगवल्लीला फल – रूप हैं । तद्भाव – मग्नतासे तन्निरोध तो परम फल–रूप हैं । यह प्रदान करनेवाली भावतरङ्गिणी श्रीगुसांईजीके हृदयभाव–समुद्रमेंसे उमडती है,–“**विज्ञप्ति**” के रूपमें,–

प्रथम–विज्ञप्तिः

प्रथम श्लोकमें “**विज्ञप्ति**” करते हुए श्रीगुसांईजी जीवकी समूल दीनताका दर्शन करातें हैं ,–

विज्ञप्ति :

कियान्पूर्वं जीवस्तदुचितकृतिश्चापि कियती
भवान् यत्सापेक्षो निजचरणदाने बत भवेत् ।

अतः स्वात्मानं स्वं निरुपममहत्त्वं व्रजपते
समीक्ष्यास्मन्नेत्रे शिशिरय निजास्याम्बुजरसैः ॥१॥

अन्वयार्थ :

व्रजपते=हे व्रजके पति !, **भवान्** = आप, **निज–चरण–दाने** = अपने चरणकमलका दान करनेमें, **सापेक्षाः** = (जीवके तद्‌योग्य साधनोंकी) अपेक्षावाले, **भवेत्** = होंगे, (तो), **बत** = खेदकी बात है; **यत्** = क्योंकि, **पूर्वं = पहले, (तो), जीवः** = (प्राण धारणके लिये प्रयत्नवाला) जीव, **कियान्** = कितना, ?! (अथवा **पूर्वं** = पहले, **क्रियान्** = कितना **जीवः** = जीव, (ऐसा भी हो सकें ।) **च** = और, **तदु चित कृतिः (तत्–उचित–कृतिः)** = उसकी उचित उत्ताम – (आपको प्रसन्न करनेवाली) कृति, "**तदचितकृति**"–पाठ हो तो, **अचित** = प्राप्त, उसकी प्राप्त (उतम) कृति, ऐसा अर्थ होगा ।) **अपि** = भी, **कियती** = कितनी ?!, **अतः** = इसलिये, **स्वं** = अपने, **निरुपम–महत्त्वं** = अनुपम महिमाको, (और), **स्वात्मानं (स्व–आत्मानं)** = अपने आपको, **समीक्ष्य** = विचारके, **अस्मन्नेत्रे (अस्मत्–नेत्रे)** = हमारे नेत्रको, **निजास्याम्बुजरसैः (निज–आस्य––अम्बुज–रसैः)** = अपने मुखकमलके रसोंसे, **शिशिरय** = शीतल करें ।

भावार्थ :

हे व्रजपते ! आप (अगर) अपने चरणकमलका दान करनेमें जीवके (योग्य साधनोंकी) अपेक्षावाले होंगे (तो) खेदकी बात है । पहले तो, जीव कितना ? (अथवा, पहले कितना जीव ?) और उसकी उचित उत्ताम कृति भी कितनी (है) ?! (जो आपको प्रसन्न कर सकें ?!) इसलिये अपने अनुपम–महत्त्वको और (पुष्टिस्थ) अपने आपको विचारके हमारे नेत्रको अपने मुखकमलके रसोंसे शीतल करें ।

मञ्जुश्री :

अनन्य रसभोक्ता भ्रमरको ही मकरन्द–लाभ :

उष्णभाव–सभर "विज्ञप्ति" श्रीगुसांईजीके हृदय–कमलका मकरन्द है, जो उत्कट स्नेहवश श्रीनाथजीको निवेदित हुआ है । उसके सेवनसे तद्‌भाव–प्रसाद सेवनशीलको कृतार्थ कर देता है । कमल तो रसके अनन्यभोक्ता भ्रमरको ही अपना गूढ–निहित–रस प्रदान करता है, अनन्य रसभोक्ता भ्रमर ही कमलरस (मकरन्द) पा लेता है । श्रीगुसांईजीके हृदयस्थ गूढ (स्वामिनीभाव एवं विरहभाव–रूप) मकरन्दका तो अनन्य–रस–भोक्ता भ्रमर श्रीनाथजी ही उपभोग करतें हैं । इसका प्रसाद–लेश भी अनन्य–भक्तोंको भगवद्‌योग–(भोग)योग्य बना देता है । ऐसा कोई प्रसाद–लेश प्रकट हो गया, "कृपा कौनसे मगसे पधारेगी ?!" – ऐसी तप्तप्रतीक्षा करती हुई चि. सौ. बहन मञ्जु पर, वात्सल्यरूपमें, बेटीको प्रदानके रूपमें ! उसने अपना मग ढूंढ लिया ! "**कर्ता कारयिता हरिः** ।" – करनेवाले करानेवाले निजजन के दोषहर्ता कृपावर्षणशील स्वरूपानन्दप्रद पुरूषोत्ताम श्रीहरि ही हैं । इस तरह "**विज्ञप्ति**"का भावोद्भूत भावार्थ "**मञ्जुश्री**",

विज्ञप्तिकी मञ्जुल–शोभा, श्रीगुसांईके हृद्भावके आस्वादके आह्लादके कुछ अंशको अभिव्यक्ति करती हुई, स्वयं ही व्यक्त हो गई !!!

अनन्य–अंतःकरण–संबंधसे प्रत्यक्ष प्रभु :

कमलकी सुन्दरता, सुकुमारता, सुगंध, शीतलतादि तो सामान्यतः कुछ दूर या पासमें होनेसे, कुछ यत्न करनेसे भी, सुलभ होतें हैं, अनुभव देतें हैं ; परंतु मकरन्द सुलभ नहीं होता है । मकरन्द–(आंतर–गूढ–रस) तो केवल भ्रमर को ही आस्वाद्य होता है । भक्त (स्वामिनीजी)का हृदयभाव तो भगवद्विषयक – भगवत्प्रसन्नताका संपादक भगवद्–भोग्य ही होता है । भगवान् और भक्तके बीच तो हृदयका संबंध होता है । “**सोऽन्तःकरण–सम्बन्धी....**” तामस – फल – प्रकरण – सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करतें हैं । सेवा भी “**चेतस्तत्प्रवणं**”– चित्त (हृदय)का प्रवण (प्रह्वीभाव–स्वाभाविक गति) कृष्णमें होनेसे मानसी एवं आधिदैविक सिद्ध–होती है । इससे ही प्रभु अलौकिक–सामर्थ्य–रूप मुख्यफलका दान करतें हैं । भक्तके सब मनोरथ सफल हो जातें हैं । यही जन्ममें, यही शरीरसे, यही लोकमें, यही इन्द्रियादिसे, भक्त भगवानका आनन्दभोग यथेच्छ कर सकता है । यह अलौकिक–सामर्थ्य भगवद्दत्त है । भक्तोंके अंतःकरण संबंध अपने प्रभुसे नित्य (सतत भी) होता है । यही अंतःकरण–संबंधका स्वाभाविक सामर्थ्य है कि, अभी श्रीनाथजी

तो निजमन्दिरमें श्रीगोवर्धन–पर्वतपर विराजमान हैं; और श्रीगुसांईजी तो विप्रयोगावस्थामें चन्द्रसरोवर पर विराजमान हैं, फिर भी प्रत्यक्षमें जैसे बात करतें हों ऐसे, “**व्रजपते!**” – संबोधनसे वह आपके हृदय–संवेदनोंको प्रत्यक्ष–प्रसंग–वत् व्यक्त कर देता है !

भगवद्रूप–सेवार्थ ही पुष्टिसृष्टिः सेवार्थ ही दर्शन :

हृदयके दोष पकने पर ही भगवद्दर्शन :

अंतःकरण–संबंध एवं प्रगाढप्रेम होने पर भी भगवान् स्वामी है । आप श्रीगुसांईजी तद्रूप होते हुए भी सेवकत्व प्रकट कर रहें हैं । अपने सेवकोंको मार्गदर्शन–शिक्षा–देनेके लिये भी,आप सेवकोचित – “**विज्ञप्ति**” ही करतें हैं । सेवक तो अपने स्वामीको – हृदयभाव का निवेदन (विनंती) ही कर सकता है । यह विनतिका स्वीकार करना या नहीं, वह तो स्वामीकी इच्छा पर निर्भर रहता है । इसमें सेवकका कोई आग्रह नहीं होता है, स्नेहभार तो अवश्य स्वयं ही होता है !

पुष्टि–जीवका तो भगवद्रूप–सेवार्थ ही प्राकट्य है । पुष्टिसृष्टि तो अन्यथा होती ही नहीं है । भगवद्रूप–सेवाके लिये स्वाभाविक नेत्र–व्यापार (प्रवृत्ति) से भगवद्दर्शन होंगे ही । केवल दर्शन तो कोई भक्ति–प्रकारमें आते ही नहीं हैं । सेवार्थ ही दर्शन हैं । सबके लिये उसका प्रदर्शन तो नहीं है । भगवद्दर्शन सबको सुलभ कहाँ है ?!

भगवान् ब्रह्माजीको कहते हैं , – “**ब्रह्मन् श्रेयः परिश्रामः पुंसो मद्दर्शनावधिः ।–**” (२–९–२०).

मानवको अपने श्रेयः के लिये परिश्रम भगवद्दर्शन तक ही करना पडता है; परंतु है तो परिश्रम ! वह तो भगवत्कृपासे ही सफल होता है, – स्वदर्शन–प्रदानसे ! नहीं तो, तब तक तो, परिश्रम ही है ! – कितने भी साधन–धन हों । भगवानने दासीपुत्र–नारदको कहा है, – "**अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।**"– (१–६–२२) – जिनमें रागद्वेष पके नहीं है, ऐसे कुयोगियोंको मेरे दर्शन कठिन हैं, नहीं होते हैं । राग–द्वेषादि हृदयमें रहते हैं । कभी प्रसंग–सत्संग–वशात् भक्ति–ज्ञानादिके उत्पन्न होनेसे दब जाते हैं, परंतु दबे हुए भी हृदयमें तो रहते ही हैं । पुनः अवसर–निमित्त पाने पर जागृत हो जातें हैं, उछल पडते हैं । इसलिये, इनको हमेशांके लिये, दूर करनेके लिये, इन राग–द्वेषादिको पका देने चाहिये । जैसे पक्व फल वृक्षसे गिर जाता है, पका गुमडा मिट जाता है, ऐसे पक्वदोष भी चले जाते हैं । हृदयदोष पकते हैं, – लौकिक अपेक्षा – ईर्ष्या – भय – रहित भगवद्–भजनसे ! "मुझे तो भगवान् ही चाहिये;" – ऐसे स्पष्ट – दृढ जीवन ध्येयसे ! ऐसे कषाय (रागद्वेषादि) न पकने पर हैं साधनके आग्रहसे अतिकठिनतासे कदाचित् कृपासे दर्शन हो भी जाय ! अन्तरायोंसे विहत लोगोंको दर्शन अतिकठिन हैं । जीव बेचारा इतनी पात्रता और साधन–परंपरा–क्षमता लावे ही कहाँ से ?!

सृष्टिके व्यवधानसे आधुनिक जीव भगवानको नहीं जानता है :

श्लोकमें, "**कियान्पूर्वं जीवः...**" तीन प्रतोंमें दिखता है । संभवतः यहाँ, "**कियान्पूर्वो**" अथवा "**कियान् पूर्णो....**" पाठ हो ! लेख वा मुद्रण के अनवधान – वशात् "**कियान्पूर्वं**" हो गया हो ! "**पूर्वं–कृत्स्नं–पूर्णं**" कोशमें समानार्थक मानें हैं । "**कियान्पूर्वो...**" ले तो , अथवा, **कियान्** = कितना ?, इस शब्दमेंसे पूर्वताको सूचित समझें तो, भगवत्सापेक्षतामें जीव आधुनिक है । पहले केवल भगवान् ही थे । अपनी ही इच्छासे स्वलीलाके लिये, स्वल्पांशसे वे अनेक रूप हो गयें, सृष्टिरूप हुए । सत् –चिद् – रूपसे सृष्टिरूप बनकर आनन्द–रूपसे तिरोहित हुए । ऐसे, भगवान् और जीवके बीचमें सृष्टिका व्यवधान (अन्तराय) हुआ । तैत्तिरीय संहिता (४–६–२२) कहती है, – "**न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।**" –पहले हुए भगवान्को पीछेसे हुआ जीव बीचमें सृष्टिका अन्तराय होनेसे जानता नहीं है । जिसको जो जाने ही नहीं तो इसके लिये वह करे भी क्या ?! भगवान्को जाने बिना जीव इस अज्ञात भगवानके लिये क्या कर सकता है ?!

अक्षरब्रह्मांशका जीवभाव :

"**कियान्पूर्णः**" लें तो, अथवा, **कियान्** = कितना ? – शब्दमेंसे पूर्णताको सूचित मानें तो भी, – जीव कितना पूर्ण है ?! –ऐसा अर्थ होता है । भगवान्

पूर्णानन्दने जब अनेकरूप होना चाहा तब आनन्द स्वल्प तिरोहित जैसा हो – ऐसा एक रूप – **अक्षरब्रह्म** – प्रकट हुआ । यही अक्षरमैंसे ही जीव–जगतादि व्युच्चरित होते हैं । जीव अक्षरब्रह्मांश है । प्रदीप्त अग्निमेंसे जैसे छोटी छोटी चिनगारीआँ निकले ऐसे ही ब्रह्ममेंसे जीव व्युच्चरित होते हैं । आरंभमें जैसे चिनगारीआँमें अग्निके गुणधर्म – उष्मा, प्रकाशादि होते हैं, बादमें नहीं रहते । ऐसे ही ब्रह्ममेंसे व्युच्चरित तदंश रूप **आत्मा** में पहले तो ब्रह्मधर्म – (ऐश्वर्य, वीर्य, यशः, श्री, ज्ञान और वैराग्य–) थे, परंतु भगवदिच्छासे वह तिरोहित हो गये । आनन्द तो पूर्वसे ही तिरोहित था । जिससे जीवभाव हुआ । **ऐश्वर्य**के तिरोभावसे दीनत्व और पराधीनत्व आये । **वीर्य**के तिरोधानसे सर्व–दुःख सहन करने हुए । **यशः**के तिरोभावसे सर्वहीनता आई । **श्री**के तिरोभावसे जन्मादि सर्व–आपत्तियाँ आई । इस चारके तिरोधानसे **बन्धन** होता है । **ज्ञानके** तिरोभावसे देहादिमें अहंबुद्धि, सर्वविपरीतज्ञान, अपस्मारादि होते हैं । **वैराग्यके** तिरोधानसे विषयासक्ति होती है । **विपरीतता** इन दोनोंसे आती है । इससे ही लौकिक –काममय जीव हो जाता है । अणु जितना काममय जीव पूर्ण कितना हो सकता है ?! “**कियान् पूर्वं**” ही पाठ लेना हो तो; **पूर्वं** = पहले, अर्थमें होगा । संगति होगी कि, – “खेदकी बात है, पहले जीव कितना ?!” ऐसे जीवकी असमर्थता की गिनतीमें यह पहला है । यह भी हो सकता है ।

“**जीवु प्राणधारणप्रयत्ने**” – जीव तो प्राणधारण करनेका प्रयत्न करनेवाला है, जीवननिर्वाहके लिये ही बेचारा मथता है । जीवनके प्रश्न सुलझानेके प्रयत्न किया करता है, परंतु प्रश्न प्रायः उलझ जाते हैं । अपने प्रश्नमें से बहार न निकल सकता हुआ, उत्तर तक जब नहीं पहूँच सकता है, तो भगवत्प्राप्तिके लिये उत्तम–कार्य तो क्या कर सकेगा ?! एसे जीवका महत्व भी कितना ?!

कुटुम्ब – काया – कमाई – कीर्ति – कामनादिमें डूबा हुआ जीव स्वकल्याणका विचार भी नहीं कर पाता है, तो कृष्ण के विचारकी तो बात ही क्या है ?! हाँ, संभवतः भगवद्‌भजन करते हुए कई लोग भी दिखाई तो देते हैं, परंतु वे तो प्रायः लौकिक कामनाओंकी पूर्तिके लिये, स्वप्रयत्नसे सफलता न मिलने पर, प्रभुपूजादिसे सफलता चाहते हैं । भगवत्प्राप्तिके लिये प्रयत्न करने वाले तो अत्यंत अल्पसंख्य लोग ही होते हैं ।

जन्तु–मनुष्य–मुमुक्षु–सिद्ध–भक्त–नारायण–परायणजीव :

> **“रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिहजन्तवः ।**
> **तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥**
> **प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम ।**
> **मुमुक्षूणां सहस्त्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिद्धयति ॥**
> **मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः**
> **सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥”**

– श्रीभागवत (६–१४–३,४,५)

पृथ्वीकी जितनी रजकणें हैं, इतने–(अनन्त)–यहाँ जन्तु हैं । केवल अपना जीवन–निर्वाह हो इस लिये यत्नशील, प्रेयार्थी, अस्तित्व टिकानेके लिये प्रयत्न–रत, जिजीविषा – (जीनेकी इच्छा) – ग्रस्त, क्षुद्र आशाके पाशमें बद्ध, व्यर्थ वयका व्यय करने वाला जीव, मनुष्यादि होते हुए भी, – जन्तु है । इसमें से जो कोई स्वकल्याण–श्रेयः–के लिये प्रयत्न करतें हैं वह **मनुष्यादि** हैं । काया – कुटुम्ब – कमाई – कामिनी – कीर्ति – आदिप्रेयः के लिये यत्नशील हैं – **जन्तु !** सर्वोत्कर्ष – सन्मार्ग – सत्कार्य – सद्भाव – सदाचार – आदि श्रेयः(कल्याण) के लिये यत्नशील हैं, – **मनुष्यादि** ! इसमेंसे प्रायः **मुमुक्षु** – (मोक्षाकामनावाले) – तो कोई ही हैं । ऐसी जीवनदृष्टि भी बहुत कम लोगोंको है, जिससे अपनी मुक्तिका विचार आता है । अहंता–ममतात्मक संसार–बंधनसे छूटकारा पाना, या शरीरबन्धन–रूप जन्मसे ही छूटना, यह मोक्ष है । पहली **जीवन्मुक्ति** है, दूसरी **जीवमुक्ति** है । इसलिये प्रयत्न तो प्रायः अत्यंत कम लोग ही करतें हैं ।

ऐसे हजारों मोक्षेच्छु लोगोंमेसे भी कोई एकाध ही मुक्त होता है,– यथार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है ! ऐसे विरलसिद्धमुक्तजनोंमेंसे भी **नारायण–परायण** (परमभक्ति प्राप्त) तो करोडोंमें भी सुदुर्लभ है, जो प्रशान्त – (भगत्प्राप्तिसे ही आप्तकाम – पूर्णकाम) हो गया है । भक्ति करनेवाले प्रभु – परायण, तो कई लोग दिखाई देतें हैं, होते नहीं हैं ! उपर तो भक्ति एवं

भगवत्परायणता दिखाई पडे, परंतु अंदर तो प्रायः – भोग परायणता होती है । योग्य अवकाश पाने पर प्रभु परायणताका अंचला हट जाता है; और भीतरकी भोग–परायणता अग्नि–ज्वाला सी भभक देती है । भगवान् एवं भक्तिके बहाने भी अपना भोग ही निभता है । ऐसे तो सुलभ हैं,–मिल जाते हैं । यथार्थ प्रभुपरायण तो सुदुर्लभ–है । इस लिये सच्चे प्रभु–परायणको करोडोंमें सुदुर्लभ कहा गया है । कृष्ण–परायणता, भक्तिजन्य निरोध –, तो प्रभुका ही प्रदान है । जीवके साधनों से या पात्रतासे वह प्राप्त कभी भी नहीं ही है । ब्रह्मभूत, प्रसन्नात्मा, रागद्वेषरहित, समशीलको भी परम–भक्ति तो प्रभुके प्रदान से ही होती है । अत्यंत कठिन होने पर भी, करोडोंमेंसे कोई, मुक्त तो हो सकता है; परंन्तु भक्त तो कोई भी, कृपाके बिना, हो ही नहीं सकता है । भगवान् भी कदाचित् किसीको मुक्ति तो दे भी देतें हैं, भक्ति तो नहीं ही देतें हैं ! यह तो केवल कृपा ही देती है । ऐसी केवल कपा या तो कृपालभ्य (पुष्टि)भक्तिके सिवाय कोई भी अधिकार उपाय नहीं है, – **पुरुषोत्तमप्राप्ति**के लिये !

अपूर्ण जीव :

जीव बेचारा अब भगवज्ज्ञान या भक्ति लावे ही कहाँ से ?! भगवान् अगर जीवके अधिकार या उपाय (साधन–क्रियादि)की अपेक्षा अपनी प्राप्तिमें रखें तो वह कैसे पूर्ण हो सकें ?! अपूर्ण जीवके पास पूर्ण ब्रह्मकी अपेक्षा क्या पूर्णता हो सकती है ?! जीवके

पास रखी हुई अपेक्षा तो उद्वेग ही कराती है। स्वयं अन्यसे अपेक्षा रखनेवाला जीव किसकी अपेक्षा पूर्ण कर सकता है ?! परिणामतः दुःख ही होता है।

पूर्ण भगवानकी महिमाका सूचन – मात्र :

पूर्ण भगवान् तो, सर्वसमर्थ है, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है। अचिन्त्य महिमा भगवानकी है। भगवानकी महिमाका वर्णन ही शक्य तो नहीं है, हाँ कुछ सूचनमात्र उसका हो सकता हो !

"एतावताऽलं ननु सूचितेन गुणैरसाम्यानतिशायनस्य।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूतिर्यस्यांघ्रिरेणुं जुणतेऽनभीप्सोः॥"

श्रीभागवत्। (१-१८-२०)।

गुणोंसे जिसके समान या अधिक कोई नहीं है, इस भगवानका माहात्म्य कैसे कहा जाय ?! माहात्म्य तो तरतम – भावसे निरूपण होता है। यह तो उसके सजातीय-समानकी संभावनामें होता है। भगवान्की समान तो कोई है ही नहीं। गुणोंसे भी समान वा अधिक कोई है ही नहीं। इसलिये इतने माहात्म्य-सूचन-मात्रसे ही "अलं"-पर्याप्त-है। इतना भी सूचन तो नहीं करना चाहिये, फिर भी कुछ सूचन होता है। जगतमें सब लक्ष्मी-मूलक ही है। लक्ष्मी के बिना किसीकी भी किंमत क्या होती है ?! इनके बिना देवत्व भी कहाँ है ?! स्वरूप और बुद्धिसे लक्ष्मीजी उत्तम है। ऐसी लक्ष्मीजी भी अगर सबको छोडकर भगवानको भजती है, तो फिर भगवानकी सर्वोत्तमता स्पष्ट कहनेकी नहीं रहती है। सर्वोत्तम लक्ष्मीजी अगर स्वतः रह सकती हो तो भगवानको क्यों भजे ?! अगर भोगके लिये भजती हो तो प्रार्थना करनेवाले अन्योंको छोडकर, उसकी इच्छा भी न रखनेवाले, भगवानको क्यों भजे ?! इसमें भी, इच्छारहित प्रभुकी चरणरेणुको कैसे भजे ?! इससे भगवच्चरण-रेणुसे भी लक्ष्मी तो हीन है; और अन्य सब तो लक्ष्मीसे हीन हैं ही। इस लिये माहात्म्य निरूपण करना नहीं चाहिये। सरसों (संर्षप)से मेरु(पर्वत) महान् है, – ऐसा कोई नहीं कहता है। भगवानकी महिमा कही नहीं जा सके तो उपमा तो किसकी दि जाय ?! निरुपम-महत्त्व है, यह लक्ष्मीपतिका ! अगर एक लक्ष्मीपतिकी यह महिमा है, तो ब्रजमें तो हजारों ब्रजलक्ष्मीयों से सेव्यमान कलानिधि ब्रजपतिकी महिमा क्या होती है ?!!?! सूचन-वचन भी क्या हो सकें ?!!

भक्तभोगार्थ प्रकट पुष्टिप्रभु :

ऐसे महिमावाले होते हुए भी आप **ब्रजपति** तो पुष्टिस्थ हैं। **"स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिः॥"**–"अणुभाष्य" (३-३-२९) है। स्वरूपबलसे स्वप्राप्ति भगवान् कराते हैं। आपका यह पुष्टिस्थ स्वरूप और आपका पुष्टि – माहात्म्य आप ही सोचें। जीव बेचारा क्या सोच भी सकेगा ?! भगवान् अपनी ओर देखकर, केवल स्व कृपासे ही कृतार्थ करते हैं – निजजीवको ! सर्वलीलाविशिष्ट अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं; भगवान्, भक्तभोगार्थ ! यह तो सब भगवदिच्छा-कृपा-की बशमें है। भक्त जीव तो तदर्थ

उत्कट आतुरतासे विनंती–पुकार – ही कर सकता है। इस लिये यहाँ आतुर–भावसें प्रभुको विज्ञप्ति है,– **“अस्मन्नेत्रे निजास्याम्बुजरसैः शिशिरय।”** – “हमारे नेत्रोंको अपने मुखकमलके रसोंसे शीतल करें।” **“आत्मानं स्वं समीक्ष्य”** – ऐसे अन्वयसे, जीवात्माको अपना – स्वकीय – सोचके स्वतः ही यह कपा करें। – ऐसा अर्थ होता है।

संयोग–सुखवालोंको ही वियोगदुःख होता है :

आपके नेत्र प्रभुदर्शनकी तीव्र लालसासें संतप्त हैं। दर्शन–सेवादिमें संयोगसुख जिसके हृदयमें फैलकर स्थिर हुआ हो, इसके हृदयमें दर्शन–सेवादि न होने पर संताप – दुःख होता ही है। यह सुख जितना अधिक इतना दुःख भी अधिक ! दर्शनके लिये वियोगमें संतप्त नेत्रको – हृदयको – कृष्णमुखके सिवाय अन्य किसीसे भी शान्ति नहीं होती है। संताप हृदयका, पहुँच गया है – नेत्रों तक ! केवल हृदयकी ही नहीं, इन्द्रियोंकी भी भगवानमें अत्यंत अभिरुचि है, उत्कट आकर्षण है। इन्द्रियोंको भी भगवद्रसानुभूति है,– संयोगसुख–संवेदन है; जिससे वियोगमें तद्रसानुभवके लिये स्वाभाविक तडपनकी उत्कटतासे संताप होता है; और इसकी शीतलताकी कामनामें अनायास ही (हृदयमें आई) विनंती हो ही जाती है।

पुष्टिभक्ति–मुखाम्बुजकी भक्ति :

पुष्टिभक्ति रसरूपा है, मुखाम्बुजकी भक्ति है, । इसलिये मुखकमल – रसकी तडपन है। भगवन्मुखकी सुन्दरता – सुकुमारता – तो सब देख सकतें हैं–भगवदिच्छासे; परंतु तद्रसानुभव तो मात्र भ्रमर जैसे पुष्टिभक्तको ही होता है।

भगवन्मुख – कमलमें मुख्य अधरसुधारस तो है ही, जो साक्षात्संयोगमें अत्यंतरंग व्रजभक्तको ही, प्रभु–प्रदान से ही, प्राप्त होता है। इसके अलावा भी नेत्ररस, कर्णरस, मुखरसादि तो विविध रसानुभवप्रद है ही। प्रणय–कृपा–कटाक्ष–सभर नेत्र, विविधलीला–स्थलादिके संकेत करते हुए नेत्र, विविधभाव–रसाभिव्यक्ति करते हुए नेत्र, रसदान करतें हैं। भक्त की हृदयंगम – केलि–संवेदनानुरूप–मधुर बातें सुनते हुए भगवत्कर्ण भी रसवृद्धि करते हुए रसप्रद होतें हैं। आपका मुख भी लीलानुरूप रसज्ञान करता हुआ, मधुर हृदयहारि स्मितादिसे रसको बढाता है, – रसदान करता है। समग्र मुखरसदान पुष्टि भक्तको अपेक्षित है।

श्रीगोपीजन–वल्लभ–रस :

सारे भगवत्स्वरूप–(श्री–अंग)के रसरूप होते हुए भी, मुख ही इसमें मुख्य है। मुख्य होनेसे ही इसे **“मुख”** कहतें हैं। मर्यादामें पादभक्ति है, पुष्टिमें मुखभक्ति है, माधुर्य–सभरतासे सर्वांग रसानुभव है। इसमें भी, मुखाम्बुजरसका स्वतंत्र अनुभव श्रीगोपीजनको है। यह है, – **“श्रीगोपीजनवल्लभरस !”** अन्य किसीका भी मुख तत्समान नहीं है। हाँ, अपने मनसे अपने प्रियमुखरस कामिजनोंको यदि लोकमें

उत्तम लगता हो, तो भी यह तो कामप्रेरित, कुत्सित, नरकरूप, भौतिक, प्राकत, सदोष ही होता है। व्रजपति श्रीकृष्ण–मुख–कमल–रस तो रस–प्रेरित, रसप्रेरक, कामनाशक, सर्वोत्तम, स्वरूपात्मक, रसरूप–आनन्दमय, आधिदैविक, अप्राकृत, निर्दोष ही होता है।

भगवान् व्रजपति जब गो–चारण करके सन्ध्या–समय ब्रजमें वापस पधारतें हैं, तब श्रीगोपीजन आपका यथोचित रसमय स्वागत करती हैं । यह आगमन भी समागमके अंगरूप है । चारों ओरसे श्रीकृष्णको घेर लिये ! आगे जो बलरामजी और गोपगण थे; और पीछे जो गोपगण थे, इसमेंसें प्रियतम कृष्णको अलग कर लिये !! स्वलाभ ले लिये !!! भगवान् दिवसभरके विप्रयोगाग्निके संतापकी शान्तिके लिये करुणा–तरंगयुक्त स्वरूपमेंसे – **“श्रीगोपीजन वल्लभरस”**– **“लावण्यामृत”**–का पान करातें हैं ! अन्यथा अंतस्तापकी शांति न होती ! संताप शान्त होनेसे ही रसास्वाद हो सकता है। बाह्यताप तो प्रभुके मिलनेसे ही गया ! रस मधुर तापहारक हो तो ही विशेषपान होता है। दुग्धादि मधुर है, परंतु तृषाजनक है, तापशांति नहीं करता है । नींबादि तापशामक है, परंतु कटु ही है। शीतल जल मधुर तापहारक होने पर भी विकृति करता है । व्रजपति मधुराधिपतिका लावण्यामृत ही सर्वगुणसंपन्न है।

मुख भक्तिरूप है। भक्ति प्रेम–रूपा है। प्रेमसे ही अधिकपान संभव है। भगवदानन्द सब कोई जानतें

होंगे, परंतु इसका आस्वाद – आह्लाद तो केवल श्रीगोपीजन ही जानतें हैं, भोगतें हैं। श्रीगोपीजनके नेत्र, सर्वत्र घूमते हुए लगने पर भी, अनुभव तो श्रीकृष्णमुख – लावण्यामृतका ही करतें हैं। नेत्र यह लावण्यकों जानतें हैं, स्वतः पान भी प्रियतम–मुखलावण्यका ही करतें हैं । लावण्यामृत नेत्रसे हृदयमें आकर हृदय–संतापको शांत कर देता है । नेत्र–शीतलतासे हृदय – शीतलता सुलभ होती है। भगवन्मुखमें सर्वरस है। नयन संकेतसे प्रकार ज्ञात करतें हैं। प्रेरक लज्जा, हास्य, विनययुक्त – रसपूर्ण – संभाषण, नेत्रकटाक्ष आदि सब मुखरसरूप हैं । भगवान् **“मार्ग”**में ही रसदान करतें हैं। श्रीगोपीजन पुष्टिभक्तिमार्गमें गुरुजन हैं । इसलिये तत्प्रकारसे यहाँ आप व्रजपतिके मुखायाम्बुज रससे नेत्रशीतलताकी कामना–विज्ञप्ति करतें है। हृदयमें जो होता है, वह वाणीमें व्यक्त हो जाता है । यहाँ हृदयगत–कामना, –स्वरूपानन्दलाभ, मुखाम्बुजरसानुभव, वाणीमें व्यक्त हो गई । मुखाम्बुजरसके पूर्वोक्त वैविध्यसे **“रसैः”** बहुवचन है। सर्वरस मुखमें होनेसे सर्वरस भोगकी कामना – विज्ञप्ति– है।

आस्याम्बुज–रसकी कामनाः

मुखायम्बुज–रसकी परम फलरूपता तो स्वाभाविक ही है । श्रीगोपीजनने – “वेणुगीत” में **“अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सखयः... वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वानिपीत**

मनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ।” – मुखकी परम फलरूपता सर्वश्रुति–संमतिसे सुस्पष्ट कही है । कृष्णमुखकी ही मुख्यता है, बलदेवजीके मुखकी नहीं । यह मुख भी **“अनुवेणु”** है, वेणुवादन – परायण है । वेणुवादनसे यहाँ रास–योग्यताका प्रदान प्रभु करतें हैं । इसमें मुखकी ही मुख्यता है । ऐसे मुखका जिन्होंने सेवन किया हो, अथवा जिन्होंने निरंतर पान किया हो, इन नेत्रवालों वा इन्द्रियवालोंका यही फल है, पर नहीं । नेत्रकटाक्षामृत, वचनामृत, अधरामृत मुखलभ्य हैं । रसलाभ, रसरक्षा, रसवृद्धि इससे होती है । यहाँ **“आस्य”** को **“अम्बुज”** – जलमें उत्पन्न – कमल – कहा है । जलजात कमल सुंदर–शीतल – कोमल होता है । यह भी संतप्तको शीतलता देता है, असुंदरको सुन्दर बनाता है, कठोरको कोमल कर देता है । यह तो बाह्यलाभ है । आन्तरलाभ तो रस है, अनन्य भ्रमरको ही मिलता है ।

“आस्यते हृदि अनेनेति आस्यम् ।” –जिससे (स्वरूप) हृदयमें बैठ जाता है वह आस्य – मुख – है । अथवा जिससे रस–समूह हृदयमें बैठ जाता है वह आस्य है । **“अस्यते ग्रासो यस्मिन् इति”** । कोल जिसमें डाले जाते हैं । यह **“आस्य”** है । यह तो सामान्य व्याखया है, सामान्योंकी, सामान्य आस्य की ! यह तो असामान्य अलौकिक **आस्य** है । सर्वसुंदर होनेसे **आकर्षक** है । सर्वसमर्थ होनेसे **सर्वप्रद** है । रसमय होनेसे **रसप्रद** है । इस लिये तद्दानक्षम–दक्ष आस्य–अंबुज–रसोंकी कामना की है । जीवके साधनोंसे तो चरणप्राप्ति (मर्यादाभक्ति) एवं शरण भी सुलभ नहीं है, तो आस्याम्बुज–रस–प्राप्ति – फलरूपा – पुष्टि भक्ति तो संभव ही कहाँ है ?! अतः स्वयं भगवान् ही कृपासे पुष्टि – भक्तिरूप आस्याम्बुज–रसोंका प्रदान करके कृतार्थ करें, यही कामना है । पुष्टि मुख्यतासे चरणकी जीवसाधनोंसे दुर्लभता कहकर, इसकी कामना न करते हुए, आस्याम्बुजरससे तापशामन अभीप्सित है । **“अस्यते तापः येनेति ।”**–संतापादिको दूर बाहार फेंकता है, वह **“आस्य”** है । **“आस्यन्दते भक्तसन्निध्यादौ इति आस्यम् ।”** –भक्तसन्निधिमें जिसका प्रदानेच्छासे (अधररसका) प्रस्त्रवण होता है, यह **आस्य** है । उससे तो भक्तको दिये बिना रहा ही नहीं जाता, – दे ही देतें हैं । पूर्वानुभव–रहितको यह कामनाकी कल्पना भी दुर्लभ है । स्वपूर्वानुभवसे तो यही अभिलाषा है । अन्य इच्छा भी नहीं होती है ।

प्रभुके हृदयमें पधारनेके दो मार्ग,–कर्णमार्ग और नेत्रमार्गः पुष्टिमें बाह्यानुभवकी मुख्यताः

प्रभु कर्णमार्गसे एवं नेत्रमार्गसे हृदयमें पधारतें हैं । कथा द्वारा, विप्रयोग – दशामें, आप **श्रुत (कर्ण) पथसे** पधारतें हैं । यहाँ विप्रयोगके होते हुए भी केवल कथाभिलाष नहीं है । आन्तर–अनुभव मात्र अभिलषित नहीं है । भक्तिमार्गमें तो बाह्य प्राकट्य ही अभिलषित है । श्रीपुरुषोत्तमजी “संन्यासनिर्णय” के “विवरण”में स्पष्ट करतें हैं,–**“एतन्मार्गे च भगवतो बहिः प्राकट्यमेवाभीष्टं, तदैवेश्वरवादोऽन्यथा शून्यवादः ।”**–

इसमार्गमें भगवान्‌का बाह्य प्राकट्य ही अभीष्ट है, तब ही ईश्वरवाद है, अन्यथा शून्यवाद है । श्रीगुसांईजी विप्रयोगमें होते हुए **इक्षित (नेत्र) पथसे** प्रभु पधारें, बाहर प्रकट दर्शन दें, यह भक्तिमार्गानुरूप कामना दिखातें हैं । आचार्यकार्य भी, शास्त्रविचार, तदनुरूप **आचार** और स्वकीयोंमें उसका **प्रचार** है न ? आप यही कर रहें हैं । नेत्र – शीतलताकी कामनासे बाह्यदर्शन–प्राकट्य–चाहतें हैं । नेत्रके उपलक्षणसे सर्वेन्द्रियानुभव चाहते हैं । अक्षण्वानोंका तो यही परं फल कहा गया है न ?

इस श्लोक “**शिखरणी**” – छंदमें है । इस छन्दका लक्षण है,– “ **खिन्ना यमन–समलागः शिखरिणी**”

स्वदोष – स्फुर्तिमें भी व्रजभक्तमें विश्वास :

यह विप्रयोगदशा भी यद्यपि है तो भगवल्लीला ही । “**चित्तोद्वेगं विधायापि**–” यह “नवरत्नं–”वाक्यसे समाधान तो है; परंतु यह तो प्रभुपक्षामें सोचने पर लीला है, जीवको तो स्वदोष –दर्शनसे दीनता होती है, भक्तकी दीनतासे प्रभुप्रसन्न होतें हैं । इसलिये, स्वदोष–परिज्ञान तो कपा–परिज्ञान भी है फिर भी, कैसी भी – दोषपूर्ण–अवस्था होने पर भी, अपने प्रभु एवं प्रभुके प्रियजनोंमेसे विश्वास शिथिल होना न चाहिये । यह दिखाते हुए, आप स्वदोष स्वीकारतें हुए, प्रभुके प्रियजनकी कृपासे अपना नैश्चिन्त्य व्यक्त करते हैं,–

विज्ञप्तिः :

स्वदोषान् जानामि स्वकृतिविहितैः साधनशतै
रभेद्यांस्त्यक्तुं चापटुतरमना यद्यपि विभो ।
तथापि श्रीगोपीजनपदपरागांचितशिरा–
स्त्वदीयोऽस्मीति श्रीव्रजनृप न शोचामि मुदितः ॥२॥

अन्वयार्थ :

विभो – हे विभो ! (व्यापक–समर्थ), **यद्यपि** (यदि–अपि) = जो कि, **स्वकृति–विहितैः** = अपने किये हुऐ शास्त्रोक्त, **साधन–शतैः** = सैंकरन साधनोंसे, **अभेद्यान्** = नष्ट नहीं हो सकें ऐसें, **स्वदोषान्** = मेरे दोषोंको, **जानामि** = मैं जानता हूँ , **च** = और (फिर भी) , **त्यक्तुं** = (इन अभेद्य दोषोंको) छोडनेके लिये, **अपटुतरमनाः** – (मैं) अनिपुणतर मनवाला (हूँ), (छोडनेको जानता नहीं, चाहता भी नहीं), (असमर्थ हूँ–स्वदोषत्यागमें), (मैं स्वदोष – त्यागमें असमर्थ हूँ, परंतु आप तो दोष–त्याजनमें समर्थ हो ।), **तथापि (तथा–अपि)** = ऐसा होने पर भी, (तो भी, फिर भी), **श्रीव्रजनृप** = हे श्रीव्रजके नृप ! **श्रीगोपीजन – पदपरागांचितशिराः** (श्रीगोपीजन – **पद–पराग–अंचित–शिराः**) = श्रीगोपीजनके चरणरजःसे अंचित (प्राप्त–अंकित–पूजित) मस्तकवाला, **त्वदीयः** = तुम्हारा, **अस्मि** = (मैं) हूँ , **इति** = इस प्रकार (समजने) से, **मुदितः** = हर्षित, **न शोचामि** = (मैं)शोक करता नहीं हूँ ।

भावार्थ :

हे विभो ! जो कि अपने किये हुए शास्त्रोक्त सेंकरन साधनोंसे नष्ट न हो सकें ऐसे मेरे दोषोंको मैं जानता हूँ ; और (इन दोषोंको) छोडने के लिये मन निपुण नहीं है (चाहता भी नहीं है), फिर भी, हे व्रजनृप ! श्रीगोपीजनकी चरणरज – प्राप्त मस्तकवाला मैं तुम्हारा हूँ, – इस प्रकार (समझनेसे) हर्षित हूँ, शोक नहीं करता हूँ ।

मञ्जुश्री :

लीलापक्ष–विचारः

प्रथम तो लीलापक्षमें स्वदोष है, वह तो आप जानते ही हैं । आप श्रीचन्द्रावलीजीका स्वरूप हैं । लीलामें श्रीललिताजीका शाप–प्रसंग हुआ है,–यह प्रसिद्ध है । यह शाप तो अभेद्य है, छूट नहीं सकता । यह भी एक लीला होनेसे आप छोडना चाहतें भी नहीं हैं । सबकुछ भगवदिच्छासे ही होता है । लीला–परिकर भगवद्रूप ही है । इसका सम्मान भी रखना है । भगवान् समर्थ है ही, छुडा सकतें हैं, फिर भी लीलाहेतु, भक्त सम्मानार्थ, नहीं छुडातें हैं । प्रभु तो **"कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं"** सर्वसमर्थ है । न करनेका भी है तो इनका सामर्थ्य ही ! सर्वतंत्र – स्वतंत्र है, – भगवान् ! सेवकको तो स्वामीने जो भी चाहा हो वह आनन्दसे स्वीकार कर लेना ही चाहिये । – पुष्टिभक्तिमार्गकी प्रणेत्रीने ऐसा ही किया है । इसी ही मार्गके अनुयायी ऐसा ही करें । ऐसा करनेका सामर्थ्य भी इन भक्तोंकी कृपासे होता है, मिलता है । ऐसा सामर्थ्य जिसको मिल गया, वो शोच नहीं करता, आनन्दित ही रहता है । यही पुष्टि–भक्ति मार्गीय–जीवन–पद्धति एवं रहस्य आप स्वकृतिसे दिखातें हैं, – निजजनोंको सिखातें हैं । प्रसन्नातापूर्वक भगवदिच्छाको वश रहना, भगवान् रखें ऐसे तत्परायण ही रहना, भगवत्प्रियोंकी कृपा – छाया – पोषणमें रहना ।

जीवपक्ष – विचार : ब्रह्मसंबंधसे ही जीवकी निर्दोषता – भगवदीयता :

अब जीवपक्षमें सोचें । कायासे, वाणीसे, मनसे क्रियासे, ज्ञानसे, स्वभावसे,भावसे, सब प्रकारसे जीव दुष्ट तो है ही । भगवदंश होते हुए भी, आनंन्द एवं भगवद्धर्मोंके भगवदिच्छासे तिरोधान होनेसे, अविद्याके संबंधसे, भगवत्त्व जाने पर, लौकिक–लालसा–वशता हुई, जीवत्व हुआ । जिससे जीवन टिकाने–निभाने–के लिये, मनमाना बेरोकटोक जीनेके लिये, विविध विचित्र छटपटाहट चलती ही रहती है । लिंगदेह–स्थूलदेह के संबंधसे लगा हुआ यह दोष तो जब तक लिंगदेह–स्थूलदेहमें अहंता–ममतात्मक संबंध होता है तब तक रहता है । कितने भी लौकिक–वैदिक–साधन, इसमेंसे छुटनेके लिये, या इसको मिटाने के लिये, किये जाने पर भी, जबतक देह–संबंध है तबतक दोष–संभव है । इसमेंसे छुटना वा दोषमिटना संभव नहीं है । प्रदीप्त अग्निसे निर्गत चिनगारी थोडी देरमें

बूझ कर काली ही जाती है, फिर उसका कालापन दूर करनेके लिये कितने भी साबुन लगायें या तीर्थस्नानादि करायें तो क्या होता है ?! पुनः अग्नि–संबंधसे ही वह कालापन चला जाता है । चिनगारीके मूलरूप अग्निका ही सामर्थ्य है, – इसका कालापन दूर करके, पुनः उसे अग्निमय बना देनेका !

दोषयुक्त जीव भी पुनः उसके मूलरूप भगवानके संबंधसे एवं ब्रह्म–संबधसे ही दोषमुक्त हो जाता है । भगवान् ही समर्थ हैं – निर्दोषता देने में , दोषोंसे छुडानेमें । दोषोंको तो जीवका बल होता है । इसमेंसे छुडानेवाली भगवत्कृपाको तो भगवानका बल होता है । कृपासे ही ममत्वसंबंधका संभव है । दैवीजीवों परकी कृपाके कारण ही भगवान् श्रीगोपीजनवल्लभने श्रीमहाप्रभुजी के पास साक्षात् प्रकट होकर श्रीगोकुलमें गोविन्दघाट पर श्रावणशुक्ल एकादशीकी मध्यरात्रिमें ब्रह्मसंबंध कराकर जीवोंकी दोष–निवृत्तिका मार्ग बताया । गंगाजीके प्रवाहमें मिलकर अन्य नदी – नालोंके जल भी गंगाजल–रूप पवित्र ही हो जाते है । ऐसे ही ब्रह्म संबंधसे जीव निर्दोष–पवित्र–भगवदीय हो जाता है । भगवान् सर्वसमर्थ हैं, सर्वतन्त्र–स्वतंत्र हैं । इस लिये श्लोकमें “विभो”–संबोधन किया है ।

प्रभुप्रिय भक्त द्धारा भी निर्दोषता–भगवदीयताः

दोषयुक्त जीव अपने सेंकरन साधनोंसे निर्दोष नहीं हो सकता है, निर्दोष होनेका मन भी प्रायः नहीं करता है ! उसका मन दृढ स्ववश निर्मल नहीं है ! वह तो

भयंकर है ! निर्दोषताके मन लिये निर्बल शिथिल विवश भी है ! ऐसे मनसे साधन करे भी क्या ?! यत्न हो भी कितने सकें ?! सबल भगवदिच्छासे ही प्राप्त जीवपना–रूप दोष जीवकी दुर्बल इच्छासे कैसे दूर हो सकें ?! भगवान् समर्थ तो है, फिर वह ही इस दोषमें संमत है, तो असमर्थ जीव कर ही क्या सके ?! सर्वदोषयुक्त होने पर भी, दोषनिवारणमें निपुणता न होने पर भी, दोष दूर करनेकी उत्कट इच्छा न होने पर भी, जीव निश्चित–रूपसे निश्चिन्त हो सकता है, – भगवत्प्रियजनोंकी कृपासे भी !! यही तो पुष्टि है !

हमारे भगवान् हैं, – श्रीगोपीजनवल्लभ ! इनको श्रीगोपीजन वल्लभ (–प्रिय–) हैं, और श्रीगोपीजनको भगवान् ही वल्लभ (–प्रिय–) हैं । परस्पर प्रगाढ प्रेम है । यही तो पुष्टिभक्ति है ! भगवान्के बिना भक्त न रह सके; और भक्त के बिना भगवान् नहीं रह सके ! भगवान् सबकुछ भक्त द्धारा ही करतें हैं । यह तो भक्तिमार्गका सिद्धान्त है । ऐसे भक्तोंकी कृपा हो जाय तो कोई भी शोच रहता नहीं है ।

भक्त स्वयं ही अकारण कृपा कर दें, अथवा जीव इस भक्तकी दीनभावसे सेवा करें, शिर भक्तजनकी चरणरजसे अभिषिक्त हो जाय, तो जीवनका साफल्य है । भगवान् भी इस जीव को छोडते नहीं है । भक्तको जो प्रिय है वह भगवानको अतिप्रिय लगता है ।

भगवान् अपने भक्तको नहीं परंतु अपने भक्तके भक्तको श्रेष्ठ मानतें हैं । वृत्रासुरने पुष्टिपुष्टिमें होते हुए भी दासानुदास होना ही चाहा है न ?!

भगवत्प्रियजनोंकी सेवा–कृपासे कृतार्थता होती है।

लोकविलक्षण होतें हैं ऐसे भगवत्प्रियजन ! समान्यतः लोक तो अपनी महत्ता करतें है, अपना स्मरण देतें हैं, अपना संबंध बढातें हैं, अपना स्वार्थ साध लेतें हैं। भगवान् – सेवा–कथा–सत्संग–धर्मादिको भी निमित्त बना करके वासनावश क्षुद्रहृदयके, कामनाक्लिष्ट लोक अपनी ही महत्ता, भोगपरायणता, लाभ–पूजा बढातें चलतें हैं। अपने आप नष्ट–भ्रष्ट होतें हैं, प्रसंग–संगमें आनेवाले अनेकको भी नष्ट–भ्रष्ट कर देतें हैं। भगवत्प्रियजन कभी भी ऐसा नहीं करतें, इनसे ऐसा होता ही नहीं है।

श्रीयमुनाजी "**स्मरपितुः श्रियं बिभ्रिती**" है न ?! स्मरण–जनक श्रीकृष्णकी शोभाको धारण करती हैं, बढाती हैं ! अपने दर्शनादिसे श्रीयमुनाजी श्यामसुंदर श्रीकृष्णका स्मरण कराती हैं, श्रीकृष्णमें भाव बढातीं हैं, अपनेमें नहीं ‼ यह अलौकिक है, लोकविलक्षण है। "**प्रियो भवति सेवनात्ताव हरेर्यथा गोपिकाः।**"– जीव सेवा श्रीयमुनाजीकी करें और प्रिय भगवान्‌का हो जाय ‼ – जैसे श्रीगोपीजन ! श्रीगोपीजन जैसी भगवत्प्रियता श्रीयमुनासेवनसे सुलभ हो जाती है। सामान्य फल नहीं है, अलौकिक है, सर्वोत्कृष्ट है। कृष्णसेवासे जीव श्रीयमुनाजी को प्रिय लगे ! पारस्परिक प्रेमका यह फल है !

हमारे श्रीमहाप्रभुजीभी भगवत्प्रियत्व देनेकी कृपा करतें हैं। "**अङ्गीकृत्यैव** गोपीशवल्लभीकृतमानवः।–" आपका यह नाम "श्रीसर्वोत्तमस्तोत्र" प्रसिद्ध है। आप अंगीकारमात्रसे श्रीगोपीजनवल्लभको जीवके प्रिय बनातें हैं, एवं जीवको श्रीगोपीजनवल्लभका प्रिय बनातें हैं, परस्पर प्रीतिका संपादन करतें हैं। अंगीकार आपका और प्रियत्व श्रीगोपीशका और जीवका ‼ आप स्वयं वल्लभ है न ?! प्रभु और महाप्रभुका पारस्परिक प्रेमका यह फल है।

यहाँ पर श्लोकमें भी, सेवा–कृपा–श्रीगोपीजनकी –(भगवत्–प्रियजनोंकी)–"**श्रीगोपीजनपदपरागांचित–शिराः**" – से इंगित (हृदयभाव–सूचित) है। तथापि "**श्रीव्रजनृप! त्वदीयोऽस्मि**"– हे। व्रजराज ! मैं आपका हूँ,–" यह हृदयकी अनुभूतिका उद्‌घोष है ! भगवत्प्रियजनोंकी सेवा–कृपासे भगवान्‌का हो जाना, यही तो फल है, – जीवनका बल है ! भगवानका हो जाना ही भगवदीयत्व है। भगवदीयत्वसे तो सब पुरुषार्थ परिसमाप्त हो जातें हैं, मोक्षकी भी स्पृहा नहीं रहती है ! भगवदान्दके अनुभवसे आप्लावित रहतें हैं,–भगवदीयजन तो ! आप "**मुदितः**" –हर्षित हैं। जो पुष्टिभक्तिमार्गमें निरुद्ध हैं, ऐसे भगवदीयोंको तो स्वरूप – लीला – रस – मग्नतासे ही अहर्निश मोद – आनन्द – आया करता है, वे शोच क्या करें ?! – क्यों करें ?! कैसे करें ?! – "**न शोचामि।**" वे "– मैं शोच नहीं करता हूँ !" भगवत्प्रियजनोंकी कृपाका यह फल है।

मधुरभावकी मुख्यताः

कलाकार कृपा करें तो कला सिखा के किसीको

कलाकार बना दें, । धनवान् किसीको धनवान् बना दे, शायद, धन दे के । जिनके पासमें जो हो जाता है, – वे वो ही अन्यको दे सकतें हैं । श्रीगोपीजन तो भगवत्प्रियजन है, आप कृपासे भगवत्प्रियत्व देतीं हैं । निकुंजलीलामें सब श्रीगोपीजन – सखियाँ – होतीं हैं । जीव भी ऐसे भक्तकी कृपासे ऐसा ही हो जाता है, – सखिरूप ! यहाँ, “**गोपी प्रेमकी ध्वजा** ” है । मुख्यता श्रीगोपीजनके प्रेमकी, निकुंजलीलाकी है । इसलिये तो श्रीगोपीजन की चरणरेणुसे युक्त शिरवाले अपने को श्रीगुसांईजीने कहा है । गोपादिकी चरणरजवाले नहीं कहते हैं !!! यद्यपि गोप भी हैं तो लीलामें, – भगवदीय ही ! फिर भी, श्रीगोपीजनकी चरणरेणुका ही माहात्म्य बताया है । श्रीगोपीजन ही पुष्टि – भक्तिमार्गमें गुरु हैं । यहाँ श्रीगोपीजनकी एवं निकुंजलीलाकी, मधुरभावकी अभिलषितता – मुख्यता – उचित रुपसे सूचित की गइ है ।

स्वप्रियजनोंकी रक्षा भगवान् करते हैं :

भगवत्प्रियजन श्रीगोपीजनकी कृपासे जीव भगवत्प्रिय – लीलामें प्रविष्ट – हो जानेसे, सखिरूप हो जाता है । ये सब ब्रजलीलामें ब्रजजन हैं । और भगवान् हैं, –“**श्रीव्रजनृप !**” “**नृन् पातीति नृपः**” – जनोंकी रक्षा करें वह नृप है । ब्रजजनोंकी रक्षा करनेवाला “**व्रजनृप**” है । “**श्री**”– शोभा – सुन्दरता है, – मुख्य श्रीस्वामिनीरूप भी है । श्रीराधाजी सहित व्रजराज–कुमार – युगलस्वरूप – “**श्रीव्रजनृप**” हैं ।

श्रीराधाजी अगर कृपा करें तो बाधा भी बाधित हो जाती है, चली जाती है । फिर चिन्ता क्यों–क्या ?! आनन्द ही आनन्द है । व्रजनृप अपनी शोभाके लिये भी, स्वाभाविक स्नेह से ही, स्वजन–रक्षा करते ही हैं । बलरामजी को साथ रखके किये हुए रास–प्रसंगमें शंखचूड श्रीगोपीजनको हरनेके लिये आया, भगवानने उसको मारा, स्वप्रियजनकी रक्षा की हैं । साधनोंसे अभेद्य दोष और अपटुतर मन होने पर भी, श्रीव्रजभक्तजनके चरणरेणुसे अंकित मस्तकवाले, भगवत्प्रियजनके कृपापात्र, प्रियजनोंको भगवदीयत्वके लाभसे आनन्द ही है, शोच रहता ही नहीं हैं । पुष्टिमार्गीय विलक्षणता है यह, – “**श्रीव्रजनृप**” की !!!

यह श्लोक भी पूर्ववत् “**शिखरिणी**”–वृत्तमें है ।

भगवत्प्रियजनोंके कृपापात्र प्रियजनकी भगवद्वशता दिखातें हैं,–

विज्ञप्ति :

धृतं यदर्थे वपुरेतदासीत्
तदिच्छया यद्भविता तदस्तु ।
प्रभो कपालो यदि रोचते ते
विज्ञापनीयं न कदापि किंचित् ॥३॥

अन्वयार्थ :

यदर्थे (यद्–अर्थे) = (जिस प्रयोजनसे), जिस (प्रभु)के लिये, **एतत्** = यह, **वपुः** = (सुखको पोषने वाला) शरीर, **धृतं** = धारण (पोषण), **आसीत्** = हुआ (था), **तदिच्छया** (तद्–इच्छया) = उसकी इच्छासे, **यत्**

= जो (कुछ), **भविता** = होनेवाला (हो), **तत्** = वह, **अस्तु** = हो, **प्रभो** = हे सर्वसमर्थ ! स्वामिन् ! कृपालो = हे कृपालो !, **यदि** = अगर, **ते** = आपको, **रोचते** = पसंद (आता) है, (तो), (हमको), **कदा** = कब, **अपि** = भी, **किञ्चित्** = कुछ (भी), **विज्ञापनीयं** = विज्ञापन करना जरूरी, **न** = नहीं (है) ।

भावार्थ :

जिसके लिये यह शरीर धारण हुआ था, उसकी इच्छासे जो कुछ भी होनेवाला हो, वह हो । हे प्रभो ! हे कृपालो ! अगर आपको पसंद है तो हमको कभी भी कुछ भी विज्ञापन करना आवश्यक नहीं है ।

मञ्जुश्री :

भगवदिच्छासे ही जीवका अधिकार :

प्रवाह – मर्यादा–पुष्टि–जीव सृष्टि :

स्वकर्मफलके भोगके लिये तो सामान्यतः शरीर सबको मिलता है । शरीर – धारण करके भी, स्वकर्मफल के भोग के साथ साथ, नूतन कर्म भी होते रहतें हैं, कर्मबंधन बढते रहतें हैं । प्रथम–सृष्टिमें, जीवोंको अपनेमें से स्वलीलार्थ व्युच्चरित करते समय ही, भगवानने विचार कर रखा है, –“**इस जीवको अमुक कर्म कराकर, मैं अमुक फल दूँगा । ऐसा ही होता है** । “यह विचार ही सबके लिये नियामक–अधिकार–रूप होता है । तदनुरूप शरीरादि मिलतें हैं । जो मिलते हैं वे ही स्वीकारने पडतें हैं । जीवकी स्वतंत्रता इसमें नहीं है ।

प्रवाह–मार्गीय जीव, जिनको (भगवानकी) “इच्छा मात्रसे (अपने) मनमेंसे” भगवानने उत्पन्न किये हैं, वे तो अपनी मनमानी रीतिसे जीने को मथते हुए, सुख–दुःखात्मक स्वकर्मफल भोगते हुए, जन्म–मरण–क्रममें फंसे रहतें हैं ।

मर्यादा–मार्गीय–जीव, जिनको (भगवानकी) इच्छा मात्रसे, वाणीमेंसे भगवानने उत्पन किये हैं, वे तो वेद–विधानोंकी मर्यादामें जीनेको मथते हुए, स्वकर्मानुरूप सुखदुःख भोगते हुए लौकिक – पारलौकिक – मोक्षावधि – सुखोंको प्राप्त करतें हैं ।

पुष्टि–मार्गीय – जीव, जिनको (भगवानकी) इच्छासे, (भगवानके) स्वरूपमेंसे भगवानने उत्पन्न किये हैं, वे तो भगवत्स्वरूप–सेवाके लिये ही जीते हुए, भगवदिच्छानुरूप सुख–दुःख भोग लेते हुए, यथार्ह सेवाफल (अलौकिक–सामर्थ्य, सायुज्य, वैकुण्ठादिमें सेवोपयोगि देह) को प्राप्त करतें हैं ।

पुष्टि – प्रवाह –मर्यादा तीनों ही सृष्टि भगवानकी तत्ताल्लीलार्थ हैं । संग–प्रसंगसे सर्वत्र भटकनेवाले, कहीं पर भी जिनको स्थिर रुचि नहीं है, वे तो **चर्षणी – जीव** हैं । उनको तो फलके टुकडे मिलते हैं ।

पुष्टिमार्गीयकी विशेषता :

पुष्टिमार्गीय – जीवको भगवान् अपने लिये ही देह धारण करातें हैं । भगवान् जो कुछ भी चाहते हो,

जिससे भगवान् प्रसन्न होते हों, जिससे भगवानको सुख होता हो, यह सब कुछ भी करनेके लिये पुष्टिमार्गीयोंकी तत्परता होती है, तदर्थ ही जीवन होता है। यही तो सेवा है। प्रवाह – मर्यादा–मार्गीय जीव तो अपने स्वार्थके लिये जीतें हैं। यही तो जीवभाव है, इन लोगोंका यही तो **स्वभाव** है। उनके परमार्थमें भी स्वार्थ ही तो छिपा रहता है। वे लोग अन्य स्वार्थ न होने पर भी **स्वान्तः–सुखके** लिये सबकुछ करते हैं, भगवदर्थ नहीं। पुष्टिमार्गीय जीव तो अपने भगवानके लिये ही जीतें हैं, सबकुछ करतें हैं, यही तो **स्व–भाव–विजय** है,–**भगवद्भाव** है। अथवा, यही तो इन लोगोंका भी **स्व–भाव** है। इन लोगोंका स्व–सर्वस्व तो मात्र भगवान् ही हैं। श्रीयमुनाजी ऐसे ही **“स्वभाव–विजय”** कराती है न ?!

पुष्टिगुरु श्रीगोपीजनसे पुष्टिजीवन–ध्येय अनायास ही “गोपीगीत” के उपक्रम – उपसंहारमें व्यक्त हो गया। उपक्रम–उपसंहारमें जो होता है, वह सिद्धान्त होता है। **“त्वयि धृतासवः”**– उपक्रममें, और **“भवदायुणां नः”**–उपसंहारमें है। (भगवानमें) भगवानके लिये प्राणधारण करनेवाले, भगवानकी लीलाके अनुरूप सेवाके लिये ही जीवन धारण करनेवाले, ये पुष्टिभक्त हैं। अपने लिये प्रकट (पधारें) हुए, अपने प्रभुकी सेवाके लिये ही पुष्टिजीवका देह – धारण होता है, – जीव न होता है।

पुष्टिभक्तको आरंभसे ही फलरूप भगवान् मिलतें हैं, निकटमें प्रकट बिराजतें हैं – भक्तके घरमें खेलते हैं :

भगवदर्थ देहधारणसे पुष्टिमार्गीय जीव ही सफल जन्मवालें हैं। इनको फलरूप भगवान् तो आरंभ से ही सेवार्थ मिल ही जातें हैं। मर्यादामें ध्रुवजी – प्रह्लादजी जैसे उत्तम भक्तोंको भगवान् कठिनतासे मिलतें हैं, मिलने पर भी स्वल्पकाल (कार्यार्थ) ही प्रकट विराजतें हैं, बादमें तिरोहित होतें हैं। पुष्टिमें तो, ब्रह्मसंबंध लेते ही जीवको आसानीसे सेवार्थ भगवान् मिलतें हैं। फलरूप प्रभुसे तो आरंभ हुआ ! आरंभमें ही फल मिल गया ! और यावज्जीवन सेवा स्वीकारतें हुए भगवान् पुष्टिभक्तके घरमें निकट प्रकट विराजतें हैं, खेलतें हैं। **यह सेव्य–स्वरूप चित्र या मूर्ति नहीं है, – साक्षाद् भगवान् व्रजाधिप ही हैं।** सबकुछ भगवद्रूप होनेसे कागज–रंग–धातु–काष्ठ–मिट्टी–पत्थर सबकोई रूपमें भगवान् ही है। यह साकार – भगवदाकार – होकर, पुष्ट होकर, **“मैं इस भक्तका उद्धार करूँगा”**– ऐसा निश्चित करके भगवान् इस रूपसे बिराजतें हैं। स्वेच्छाके आवरणमें होनेसे अपनको प्रकट बोलते – चलते दिखाई नहीं देतें हैं। जब इच्छा आप करतें हैं तब, वो ही बोलते–चलते हुए स्वानुभव देतें हैं,– कृपासे ! ऐसे मूर्ति–चित्रके प्रति किया हुआ व्यवहार भगवानसे ही होता है। मूर्तिके प्रति आदर–प्रेम

भगवानका ही आदर–प्रेम है । चित्र या मूर्तिकी अवज्ञा भगवानकी ही अवज्ञा है ।

श्रीगुसांईजीका भगवत्सेवार्थ देहधारण :

श्रीगुसांईजीका ही जीवन–व्यवहार देखें । जब आप प्रवासमें परदेशमें पधारते थे तब भोजनादि विप्रयोगानुरूप सादा–स्वल्प ही रखते थे । क्योंकि इस समय देहका उपयोग श्रीनाथजी वा श्रीनवनीतप्रियजीकी साक्षात् सेवामें नहीं होता था । जिस देहसे सेवा न हो सके इस देहका पालन–पोषण स्वभोगार्थ नहीं करना चाहिये, पुष्टिस्थका देह तो सेवार्थ ही है । अपने प्रभुसे दूर रहने पर तो "**प्रोषित–भर्तृका–व्रत**" रखना चाहिये । जिस स्त्रीका पति दूर हो वह क्या चैनसे जियेगी ?! पत्यर्थ (पतिके लिये) प्राण टिकानेके लिये, देहनिर्वाहार्थ ही, कुछ स्वल्पसे पोषण कर लेगी न ?! श्रीगुसांईजी ऐसे ही करते थे । वापस लौटते समय, सेवाके लिये, देह सक्षम हो इस लिये, घर पहूँचनेसे थोडे दिन पहले, पौष्टिक आहार करते थे । देह अपने लिये नहीं, प्रभुके लिये, प्रभुकी लीला–सेवाके लिये, ही धारण किया है न ?! आप सेवा करके स्वजनोंको सिखातें हैं ।

भक्त पाण्डवोंने भी भगवान् श्रीकृष्णके स्वधाम पधारने पर राज्य एवं देह–त्याग नहीं किया है ?! जब भगवत्सेवा नहीं मिलेगी तब तो संपत्ति और शरीर हैं ही किस कामके ?! – व्यर्थमें यह तो बंधनप्रद – दुःखद हो जाय !

भगवानको कुछ कहना नहीं, सब सहन करना और संमुख रहनाः

श्रीगुसांईजीने तो, "**धृतं यदर्थे वपुरेतदासीत्**" –कहा है । नित्यलीलामें श्रीचन्द्रावलीजी रूपसे एवं अब श्रीगुसांईजी रूपसे, भगवत्सेवार्थ ही आपका देहधारण है । लीलाका शापादि–प्रसंग जो हुआ है, ऐसी ही भगवदिच्छा है, तो "**तदिच्छया**" वही इच्छासे अब जो होना है वह हो ! आप स्वामी हैं; सर्वसमर्थ हैं, कृपालु हैं, । इनको जो रुचे ऐसा वे करें । भक्तोंका अनिष्ट तो भगवान् कभी करतें ही नहीं हैं । कृपालु हैं वह कठोर हो ही नहीं सकता है । स्वामीका किया हुआ, स्वामीको जो पसंद हो वह, तो दासको आवकार्य ही होता है । सर्वज्ञ हैं,– भगवान् ! फिर इनको तो है ही क्या विज्ञापनीय ?! उनको कुछ भी नहीं कहना और कभी नहीं कहना !

"कृपा इक लालनकी चहिये,
अपने दोष विचार ही सजनी, इनसों कछु ना कहिये;
वो जोइ करे सो सब आछी, शिरपें सब ही सहिये;
सूरश्यामसों कछुना कहिये, ज्यों राखे त्यौ रहिये."
– श्रीसूरदासजी

कोई भी अवस्था हो ! – सुख या दुःख, सानुकूलता वा प्रतिकूलता, संयोग या विप्रयोग ! पुष्टिभक्तोंको तो उभयदशामें विशिष्ट भगवदनुभवसे सुखानुभव ही है । उनका तो शरीर "वपुः" है न ?! "वं अमृतं सुखं पुष्णातीति वपुः ।" सामान्य नहीं, लौकिक

मर्त्य नहीं असामान्य – अलौकिक अमृतरूप नित्य–सुख भगवत्संबंध से देनेवाला शरीर पुष्टिभक्तों को तो वही लाभ है न ?! ये तो सर्वथा भगवद्‌वश ही हैं ।

विदुरजीने मैत्रेयजीसे भागवतकथा सुनकर मनमें इतना ही निर्णय किया है, – “**सब कुछ भगवानको वश हैं । भगवान् करेंगे वही होगा । भगवानके आश्रयमें ही रहना । भगवान् जैसे प्रेरे ऐसे – वह ही करतें है –ऐसा समजकर करना ।**”वशमें रहनेवाले ही वश कर लेतें हैं । भगवान् भक्तोंके वशमें है न ?! क्योंकि भक्त भगवान्‌के वशमें रहकर भगवान्‌को वश कर लेतें हैं । यह तो वशीकरण है ।

इस श्लोक “**उपेन्द्रवज्रा**”–वृत्तमें है । भक्तोंकी निकटमें –“**उप**”,–रहने वाला, भक्तोंको परमैश्वर्य–“**इदि**” देनेवाला, “**उपेन्द्र**”– भगवान् हैं । “**वज्र**”से तो भक्तोंके दुःख–पाप–पर्वतोंको तोडता है ।

अपना कुछ भी हो, अपने प्रिय प्रभुको सुख हो, प्रभु प्रसन्न हो, यही पुष्टिभक्तोंका स्वाभाविक ध्येय है, – लक्ष्य है । प्रभु तो कृपालु है ही, चाहे वह परिस्थिति कैसी भी, प्रतिकूल (भी), देते हो । भक्त–जीव तो अपना ही दोष सोचेगा । अपने प्रिय प्रभुके विना रहना भी उसके लिये तो अशक्य सा हो जाता है, फिर भी संयोग – सेवाकी आशासे ही जीतें हैं । स्वदोष–दर्शनसे दीनता आती है, – बढती है, इससे प्रभु प्रसन्न होतें हैं । पुष्टिभक्तोंका दुःख भी भगवान्‌के लिये ही होता है । यह दिखातें हैं, –

विज्ञप्ति :

यमन्तरेण क्षणमप्यशक्यं
यो मन्यमानः स दिनान्यमूनि ।
नयामि तेनापि विना यदित्थं
किमस्ति कापट्यमितोऽधिकं मे ॥४॥

अन्वयार्थ :

यं = जिसके (श्रीनाथजीके), **अन्तेरण** = अंतरायसे, (सिवाय)(बिना), **क्षणं** = एक क्षण, **अपि** = भी, **अशक्यं** = (रहना) अशक्य, **मन्यमानः** = मानता हुआ, **यः** = जो (मैं), **सः** = वो, **अमूनि** = इन, **दिनानि** = दिनोंको, **तेन** = उसके, **अपि** = भी, **विना** = बिना, **यत्** = जो, **इत्थं** = इस प्रकार, **नयामि** = वहन करता हूँ, **इतः** = इससे, **अधिकं** = अधिक, **मे** = मेरा, **कापट्यं** = कापट्य, **किं** = क्या, **अस्ति** = है ?!

भावार्थ :

जिस (श्रीनाथजी)के सिवाय एक क्षण भी (रहना) अशक्य मानता हुआ वह जो (मैं) इन दिनोंको उस (श्रीनाथजी) के भी बिना जो इसप्रकार व्यतीत करता हूँ, इससे अधिक मेरा कापट्य क्या है ?!

मञ्जुश्री :

स्नेहमें स्वदोष–दर्शन :

चित्ताकी एकाग्रतासे जो व्यक्ति तनु–वित्ताजा सेवा करता है, फलरूपा मानसी सेवा उसको सिद्ध होती है । ऐसी मानसी भी अपने केवल अनुग्रहसे प्रदान

करनेवाले श्रीगुसांईजी है । यही कृपण जो सेवामें द्रव्य लगाना नहीं चाहता था, उसको मानसीका प्रदान आपने किया । जिसका हाथ, दूधमेंसे अधिक चीनी निकालनेकी कल्पना करने पर, –“इसमें तेरे बापका क्या जाता है ?!” – कहकर प्रभुने पकड लिया था । ऐसे प्रदाताका मन कितने प्रेमके प्रगाढ भावसे भगवानमें लगातार लगा रहता होगा ?! सामान्य स्नेहमें भी, मन मिल जाने पर, लौकिकमें भी, एक दूसरों के बिना रहा नहीं जा सके, –ऐसा परस्पर लगता है । मोह एवं वासनाग्रस्तोंको भी कभी कभी ऐसा ही लगता है; परंतु प्रसंगवशात् मोहका नशा उतर जाने पर, वासना कुछ दब जाने पर, स्वार्थ न निभने पर, भ्रान्ति छूट–टूट–जाती है । अलग होकर दोनों आसानीसे जीतें हैं, कभी कभी तो परस्पर दोषदर्शन – तिरस्कार – द्वेष भी करतें रहतें हैं ।

यहाँ तो शुद्ध प्रेम है, भगवल्लीला ही है । फिर भी लोकवत् है, इसलिये यहाँ भी मिलनेकी मधुरताके बाद छूटने की कठिनता झेलतें हैं, परंतु कटुता नहीं आती है । दोष सामनेवाला का नहीं, अपना ही देखतें हैं । लौकिकमें तो मोहवेश लोग परस्पर दोषारोपण करते हुए अपना तो बचाव ही ढूँढते हैं, हीनता है । यहाँ तो शुद्ध स्नेह है, दासभाव है । सामनेवालाका, स्वामी का दोष नहीं, अपना ही दोष देखतें हैं, – स्वीकारतें हैं । यह उत्तमता है ।

लगता था पहले – संयोगमें, – प्रेमप्रगाढतासे, कि इस प्रियके बिना एक क्षण भी जीवनका रक्षण नहीं हो

सकेगा ! अब प्रसंगवशात् विप्रयोग है, परंतु प्रियके समीपमें न होने पर भी अनेक क्षण व्यतीत तो हो ही रही है !! मरण तो होता नहीं है ! जीवन शक्य हो तो रहा है !! संताप होने पर भी, जीना प्रिय न लगने पर भी, कष्टसे भी, जीवन तो बना रहा है !!! अतः, पूर्वमान्यता जो थी वो उसी समय तो ठीक ही लगती थी, परंतु अब तो वह गलत लगती है । मेरे ही मनका यह कापट्य है ! ऐसा दिखावा है ! प्रियत्वमें प्राणका परित्याग न हो तो प्रेम नहीं, कपट ही है । प्राणत्याग साधनसे नहीं, स्वतः ही हो जाता है, – प्रियत्वकी प्रगाढतासे, प्रियके परित्यागके संवेदन–मात्रसे ही !

प्रगाढ प्रेमका प्रभाव–स्वभाव :

प्रसिद्ध कथा है,– “गीतगोविन्द” के प्रणेता कवि वर श्रीजयदेवजीकी ! कवि जयदेवजीकी पत्नी थी पद्मावती । परस्परमें प्रगाढप्रेम था । एक दफा पद्मावतीजी राजराणीके साथ अट्टालिकामें बैठी थी । वहाँ कोई स्त्री सती होनेको जा रही थी । रानीने इसकी प्रशंसा की । पद्मावतीने कहा,– “पतिके देहांतके समाचार–मात्रसे प्राण निकल जाय, वो उत्तम सती ।” सुनकर रानी चूप रही । मौका पाकर परीक्षाका दाव लगाया । राजा एवं जयदेवजी मृगयामें गये थे । कोई (कपट) समाचार लेकर आया,– “जयदेवजी व्याघ्रसे मारे गयें हैं ।” –सुनते ही पद्मावतीके प्राण निकल गये ! रानी त्रस्त हो गई । जयदेवजी आये । घटना सुनी । भक्त थे “गीतगोविन्द”–गान शुरू हो गया,– “**धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली** ।”– प्रेम–

भक्तिका प्रगाढ–प्रभाव, भगवान्‌का अनुग्रह, कि पद्मावती सहसा बैठी हो गई !– बोलने लगी, आगे,– "**गोपीपीनपयोधरमर्दनचञ्चलकरयुगशाली ॥**" यही पति प्रेम है । प्रेमकी प्रगाढतामें प्राणार्पण हो गया ! है तो प्रेम ! प्रेम प्रभुमें प्रगाढ होता तो वियोगमें देह छूट जाता !

लीलानुरूप कृपा :

श्रीगोपीजन – प्रभृति परमोत्तम भक्त विप्रयोगमें भी जी रहें हैं, क्योंकि भगवान् ही इनको संपूर्ण रसानुभव कराना चाहतें हैं । भगवान् श्रीकृष्ण शृंगाररसरूप हैं । शृंगारके संयोग – वियोग हो दल हैं । भगवानने संयोग देनेके बाद वियोग दिया,– जिससे पूर्ण–रस–(कृष्ण)–का अनुभव हो । इसलिये ये भक्तजन तो विप्रयोगमें भी कृष्ण–रसानुभव ही कर रहें हैं । वियोग तो विशिष्ट योग है । विरह तो विशेष रह (एकान्त) है, जिसमें प्रियका विशेषानुभव होता है । भगवदिच्छासे ही, विशेष रसानुभव करानेकी कृपासे, वियोगमें भी ये भक्त जीवंत हैं । कई व्रजभक्तोंकी देह छूटी भी है, ऐसा लगता है । इनके साथ ऐसी ही लीला है । श्रीगुसांईजीको भी लीलानुरूप वियोगानुभव भगवानने दिया है । इसलिये लीलारसानुभव ही करतें हैं । फिर भी प्रेमके विचित्र–स्वभावसे दुःख भी लगता है ! परंतु आप इसमें जीवित रहनेमें भी, अपना ही दोष देखतें हैं । प्रेम–कापट्य इस दशाको मानतें हुए, विधान ऐसा कर रहें हैं ।

मोह सदोष होता है, प्रेम निर्दोष ही होता है :

संयोगमें तो प्राण सहज धारण होतें हैं, पुष्ट होतें हैं; परंतु विप्रयोगमें भी प्राणधारण तो पुनः संयोगकी आशासे, प्रियके सेवालाभकी लालसासे, ही होता है । विशेषानुभवके लिये ही भगवान् यह दशा देतें हैं । जो भगवान् देतें हैं वह तो सबको भी अवश्य मिलता ही है, लेना ही पडता है, फिर भी भक्त कोई भी परिस्थितिमें दोष अपने प्रिय प्रभुका नहीं अपना ही देखता है । प्रेमोद्रेकमें प्रियके बिना रहा नहीं जाता है,–ऐसा लगता है, बादमें प्रेमकी स्थिरतामें प्राण रहतें भी हैं । प्रेमका न रहना, अभाव होना, क्षुब्धता या कटुता होना । यह तो होता है,–लौकिक मोह–रूप प्रेमके प्रसंगोंमें; अलौकिक शुद्ध प्रेममें नहीं ! यह तो निर्दोष होता है, निरंतर बढता ही रहता है । "**श्रीमद्भागवत – रसास्वाद**" में प्रेम और मोहके भेद विस्तृत बतायें हैं ।

इस श्लोकमें **उपेन्द्रवज्रा – इन्द्रवज्रा** – के मिश्रणसे **उपजाति** – इन्द है ।

मैं तो जीवभाव–स्वभावसे कपटी हूँ कुछ भी हूँ, फिर भी मेरे प्रिय प्रभु तो स्वजन पक्षापाती हैं । मैं इनका स्वजन हूँ, फिर भी उपेक्षा क्यों करतें हैं ?! – यह आर्तनाद अभिव्यक्त करतें हैं,–

विज्ञप्ति :

आसारैः पीडितं स्वं व्रजमवितुमधादाशु गोवर्धनाद्रिं
दावाग्नि–दह्यमानं तमपिबदमिताऽसहा भक्तार्तिभीतिः ।

गोपस्त्रीविप्रयोगानलमुपशमयन्नेति गोष्ठं दिनांते
सोऽपि श्रीगोकुलेशः किमिति करुणया
मामिहोपेक्षतेस्वम् ॥५॥

अन्वयार्थ :

(जिस प्रभुने इन्द्रके कोपसे), **आसारैः** = निरंतर बरसती हुई मेघधाराओंसे, **पीडितं** = पीडित, **स्वं** = अपने, **व्रजं** = व्रज(वासीयों)को, **अवितुं** = रक्षनेके लिये, **गोवर्धनाद्रिं** (गोवर्धन–अद्रिं) = गोवर्धनपर्वतको, **आशु** = शीघ्र, **अधात्** = (लीलार्थ) धारण किया; **दावाग्नि–दह्यमानं** = (ग्वालबाल एवं गायोंको) बनमें लगी हुई आग (दावाग्नि)से जलते हुए, **तं** = उस (व्रज) को, (रक्षनेके लिये), **अमितासह्यभक्तार्तिभीतिः (अमित–असह्य–भक्त – आर्ति – भीतिः)** = भक्तोंकी आर्ति (पीडा) और भय जिसको अमाप और असह्य है ऐसै (प्रभु) ने, **अपिबत्** = (उस दावाग्निका) पान किया । **गोप – स्त्री – विप्रयोगानलं** (गोप–स्त्री–विप्रयोग–अनलं) = श्रीगोपीजनके विप्रयोग – रुप अग्निको, **उपशमय** = शान्त करते हुए, **दिनांते** (दिन–अंते) = सायंकालमें, (जो प्रभु), **गोष्ठं** = व्रजमें, **एति** = पधारतें हैं, **सः** = वह, **श्रीगोकुलेशः** (श्रीगोकुल–ईश) = श्रीगोकुलपति (श्रीकृष्ण), **अपि** = भी, **इह** = यहाँ, **स्वं** = अपने, **मां** = मेरी, **उपेक्षते** = उपेक्षा करतें हैं, **इति** = इस प्रकार, **किं** = क्या ? **करुणया** = करुणासे (अपने स्वजन ऐसा मेरी उपक्षा करतें है ?।), (किस प्रयोजनसे उपेक्षा करतें हैं ?।)

भावार्थ :

निरंतर बरसती हुई मेघधाराओंसे पीडित अपने ब्रजको रक्षनेके लिये (लीलासे) गोवर्धन–पर्वतको (जिसने) शीघ्र धारण किया, दावाग्निसे जलते हुए उस (व्रज)को (रक्षनेके लिये) भक्तोंकी आर्ति और भय जिसको अमाप और असह्य है ऐसे (जिस प्रभु) ने (उस दावाग्निका) पान किया, श्रीगोपीजनके वियोगाग्निको शान्त करते हुए सायंकालमें (जो प्रभु) ब्रजमें पधारतें हैं, वह श्रीगोकुलेश भी यहाँ इस प्रकार क्या करुणासे अपने (ऐसे) मेरी उपेक्षा करतें हैं ?!

मञ्जुश्री :

भक्तरक्षामें रत भगवान् :

भगवानने व्रजजनोंको अपना लिये । जैसे भी वे थे, भगवानने अपने बना लिये ! फिर इनकी ओर न देखकर, मात्र अपनी ओर देखकर, भगवानने इनके सब कार्य कर दिये । समग्र ब्रजवासी इन्द्रकोपसे प्रलयकालीन मेघोंसे परेशान थे । उन्होंने भगवानकी शरणागति की । भगवानने ब्रजको अपना शरणागत – अनन्य – अंगीकृत जानकर स्वात्मयोगसे व्रजकी रक्षा की । लीलाके लिये, दृष्टमें विश्वासके लिये ही गोवर्धनजीको धारण कर लिये । सात रात्रि – सात दिवस तक सप्त प्रकारके अन्याश्रयसे छुडायें । सामान्यतः लोग देव – ऋषि– पितृ– आत्मा– आत्मीय – वैदिक – पारलौकिक, ये सात पर आधार रखतें हैं । आज कोई आधार रक्षण नहीं कर सकता हैं,

देखा; स्वानुभवसे प्रभुकी शरणमें आयें, इन्द्रकी नहीं। सत्ता-संपत्ति-स्थान - मानादिकी स्पृहा शरणस्थ भक्त नहीं करतें हैं। भगवानने अपना व्रत-शरणस्थकी रक्षा - मानके व्रजकी रक्षा की, कोई उपकार-रूपमें नहीं! संबंधीकी अपेक्षा भी भगवान् शरणागत की रक्षा अधिक प्रेमसे करतें हैं। स्वसंबंधी माता देवकीजी रक्षा तो की, परन्तु उनके अन्य संतानको तो मरने दिये थे! शरणागत कुन्ताजीकी रक्षा तो प्रभुने उनके संतानके साथ अनेक बार की !! ब्रजजनोंके लिये तो स्वयं भगवान् ही प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूप हो गये! ब्रह्मस्वरुपकी मर्यादा भी छोड कर भगवानने इनके लिये सबकुछ किया! आप स्वयं इनके हो गये! तो फिर लोक-वेद मर्यादाकी तो बात ही क्या है ?! भक्तोंके लिये सब छोडतें हैं आप!

ग्वालबाल, गायें एवं सकल ब्रजवासीओंकी रक्षाके लिये, आपने क्रमशः मुञ्जाटवीमें और कालीयदमनके बाद यमुनातट पर, दो दफा दावाग्नि-पान किया। आपके मुखमें कारणरूप अग्नि है, इसमें वह कार्यरूप अग्निको शान्त (लीन) कर दिया। ये भी दोनों प्रसंगमें शरणमें आये थे। भगवानने स्वजनरक्षा की। भगवान् स्वयं भक्तोंके कष्ट दूर कर देतें हैं, भक्तको सुख देतें हैं।

दिनमें प्रभु गोचारणके लिये बनमें पधारतें हैं। श्रीगोपीजन उत्कट प्रेमसे, घरमें विरह-दुःख भोगती हैं। सायंकालमें प्रभु ब्रजमें वापस लोटतें हैं। पधारते समय वेणुनाद-मुखदर्शन- संकेत - स्मरदान - सत्कारका स्वीकार - आदि लीलाओंसे विरह दुःख दूर करते हुए सुख देतें हैं। श्रीगोपीजन प्रभुकी पास दुःखकी निवृत्तिके लिये बनमें नहीं गई, आप ही सुखदानके लिये भक्तके पास पधारतें हैं।

स्वभावसे विरुद्ध भी भगवानकी लीला :
करुणा है- निर्दोष कृष्णकी :

अपने गोकुल - गोकुलजनके लिये पर्वतधारण - दावाग्निपान - निकटगमनादि लीलाश्रम भी भगवान् ही करतें हैं। है ही, - श्रीगोकुलेश ! साकार, सर्वसुन्दर, गोकुलके स्वामी ! - निःसाधन गोकुलके फलदाता ! भक्तोंके अधिकारके बिना, आयासके बिना, अरे ! इच्छाके भी बिना, स्वयं ही फलदान करतें हैं। यही तो आपका स्व-भाव है ! ऐसे होते हुए भी आप मेरी उपेक्षा क्यों करतें हैं ?! मैं भी गोकुलका - आपका - शरणागत हूँ, अनन्य अंगीकृत स्वकीय हूँ, फिर भी दुःख, आपत्ति, विप्रयोग झेलने पडते हैं !! आप स्वयं ही दुःख दूर करके सुख नहीं देते हो ! यही तो उपेक्षा है ! यही तो आपके स्व-भावसे विरुद्ध है !! हमारी ओर नहीं , आपकी ओर देखके भी कृपा क्यों नहीं करतें हो ?!! कारण समझमें नहीं आता है !

आप कठोर तो हो ही नहीं, बन सकतें भी नहीं ! मिश्री तो हमेशां मिठी ही होती है, कभी भी कटु होती है क्या ?! - अगर लगे भी तो बुखारादि दोष खानेवालामें हैं,- मिश्रीमें नहीं ही ! आप तो कोमल - मधुर - करुणामय हो। आपकी वृतिमें भी इस लिये

तो कोमलता – मधुरता –करुणा(लुता) होती ही है। इस कारण अवश्य मेरी कोई भी दशा हो, फिर भी आपकी तो इसमें करुणा ही है। दुःखमें भी आपकी दया ही है। कष्टमें भी कृष्णकी करुणा ही है। प्रारब्धभोग – परीक्षा – शुद्धि – कोई भी हेतुसे यह कठिनता होगी, परंतु वास्तवमें इसमें बीजरूपसे तो आपकी करुणा ही है। आपमें कोई भी दोष कभी भी है ही नहीं। आप निर्दोष हैं। क्या करुणासे आप मेरी उपेक्षा करतें हैं। कोई अज्ञात – ज्ञात अपराधसे हम दण्डके योग्य होने पर भी आप दण्ड नहीं देतें हैं। – उपेक्षा ही करतें हैं , स्वजन मानके ! यह तो आपकी करुणा ही है। व्रजजनों पर करुणा का प्रकार तो कुछ अलग ही था ! मेरे लिये अलग ही प्रकार लगता है !! इस प्रकार क्या करुणासे आप अपने स्वजन ऐसे मेरी उपेक्षा करते हो ?! भगवानकी कृपासे ही सबका अस्तित्व भी होता है, इनकी उपेक्षासे तो जीवन–निर्वाह एवं अस्तित्व भी संभव नहीं है। फिर उपेक्षा स्वजनकी क्यों ?!

इस लोंकमें "**स्रग्धरा**"–वृत्त है। लक्षण है, – "**म्रभ्नैर्यानांत्रयेण त्रिमुनियतियुतास्रग्धरा कीर्तितेयम्** ।"

यहाँ "**दावाग्निदह्यामानं** –" में तृतीय–अक्षर ह्रस्व होनेसे छन्दोभंग है, परंतु यह तो यहाँ विप्रयोगके दुःखमें दोष नहीं है, प्रत्युत गुण ही है ! अथवा, "दावाग्नि दह्यामानं तं पाठ हो तो, उस जलाते हुए दावाग्निका (पान किया),– ऐसा अर्थ होता है, इसमें छन्दोभंग नहीं है।

भगवान् अपनी – स्वकीयकी – उपेक्षा क्यों करतें हैं ? – ऐसा सोचतें ही स्वदोष स्फुरायमान हुआ, उसकी उत्प्रेक्षा विधान–रूपमें करतें हैं, –

विज्ञप्ति :

जानामि मन्दभाग्योऽहं यदर्थं गोकुलेश्वरः ।
भक्तक्लेशासहिष्णुत्वस्वभाव कुरुतेऽन्यथा ॥६॥

अन्वयार्थ :

जानामि = (मैं) जानता हूँ, **अहं** = मैं, **मन्दभाग्यः** = मन्दभाग्यवाला (हूँ), **यदर्थं** (यद्–अर्थ) = जिस प्रयोजन (कारण) से, **गोकलेश्वरः** = गोकुलके स्वामी (श्रीकृष्ण), **भक्त–क्लेशा – सहिष्णुत्व–स्वभावं (भक्त – क्लेश – असहिष्णुत्व – स्वभावं)** = भक्तोंका क्लेश सहन न कर–सकना (असहिष्णुता) रूप स्वभावको, **अन्यथा** = विपरीत, (बदल गया हुआ) – (अलग–भिन्न), **कुरुते** = करतें हैं।

भावार्थ :

मैं जानता हूँ, मैं मन्द भाग्यवाला हूँ; जिससे गोकुलेश्वर भक्तोंका क्लेश सहन न कर सकनेका (अपना) स्वभाव (मेरे लिये) विपरीत करतें हैं।

मञ्जुश्री :

प्रेममें प्रियजनका कष्ट असह्य लगता है :

भक्तका क्लेश भगवानको असह्य लगता है :

यह प्रभु तो गोकुलेश्वर है। जो अपने गोकुलके लिये पर्वतधारण, दावाग्नि–पान, भक्तके निकटमें

गमनादि लीलाएं स्वयं ही करतें हैं । लोक – वेदकी मर्यादाओंका उल्लंघन तो ठीक, परंतु स्वयं ब्रह्म–स्वरूप–मर्यादाका भी उल्लंघन आप अपने निःसाधन – प्रिय – व्रजभक्तोंके लिये करतें हैं ! स्वेच्छासे अनायास हर्षपूर्वक करनेसे तो यह सब लीला कही जाती हैं । परेच्छासे करनेमें श्रम होता है, स्वेच्छासे करनेमें तो आनन्द ही होता है । आप स्वयं ही आनंदमय हैं, – आनन्दप्रचुर हैं । प्रकट पधारें हैं ही व्रजमें,– अपने ब्रजजनोंको आनन्द देनेके लीए ! लीलाएं भी करतें हैं, – ब्रजको हर्ष प्राप्त करानेके लिये ! आपकी लीला भी आनन्दमयी है ! आनन्द – प्रचुर, आनन्द देनेवाला, आनन्दमयी लीला करता हुआ, आनन्दके प्रतियोगी रूप (विरोधी) क्लेशको कैसे सहन कर सकें ?! – इसमें भी स्वभक्तोंके ?!! इनका तो स्वभाव ही आनन्द देनेका है, उदृेश भी आनन्द देने का है ! शर्करा आस्वाद करनेवालोंको मधुरता के सिवाय क्या देती है ?! भक्तोंका स्वल्प क्लेश भी भगवानको तो असह्य हो जाता है ! यही तो भक्तवात्सलता है,– आपकी ! भक्त तो अपना कष्ट सहन कर भी लें, – असह्य भगवानको लगता है !! भगवानका श्रम भक्तोंको असह्य लगता है परस्पर प्रेमकी स्वाभाविक उत्कटतामें स्वप्रियका श्रम प्रियजनको असह्य ही होता है । प्रेमका ही यह स्वभाव है ।

कर्मफल भी भगवान् ही देतें है : स्नेहकी विचित्रता :

ऐसे भक्तवत्सल कोमलहृदय कृष्ण मेरा क्लेश तो सहन कर रहें लगतें है !! भक्तत्व तो अन्यथा नहीं है, प्रेमका स्वभाव भी अन्यथा नहीं है, परंतु प्रभु ही स्वेच्छासे स्वाभावको अन्यथा करतें हैं, –ऐसा लगता है ! स्वतंत्र सर्वसमर्थ विरुद्धधर्माश्रय निर्दोष है प्रभु तो ! इनकी तो निर्दोष लीला ही है, – यह भी ! दोष तो मेरे भाग्यका है ! भगवत्कृपासे स्वदोष स्फूर्ति होती है । यहाँ भाग्य भी कर्मफलरूप है, परंतु फलित तो भगवदिच्छासे ही होता है । कर्म तो जड है । स्वतः फल दे सकतें नहीं । भगवदिच्छासे ही फल होता है, भगवान् ही फल देतें हैं । ये तो गोकुलेश्वर हैं । ईश्वर तो फलदाता है, कर्तुं–अकर्तुं–अन्यथा कर्तुं – समर्थ है, सर्वतंत्र स्वतंत्र है । वह गोकुलके स्वजनोंके लिये सबकुछ करतें हैं, । लोक–वेद–ब्रह्मस्वरूप – मर्यादाओंको अन्यथा भी कर देतें हैं !! तो मेरे लिये भक्तक्लेशको सहन न करनेका आपका स्वभावको भी अन्यथा करतें हैं !!– स्नेहकी संतप्ततामें यह उत्प्रेक्षा है, – विधानके रूपमें व्यक्त हो गई है । यह भी स्नेहकी स्वाभाविक विचित्रता ही है !!! यह दोषदृष्टि नहीं है । वियोगका विशिष्ट प्रयोग है !! **"कुरुते"** – आत्मनेपदसे फल प्रभुको ही है – इसका ! यह है – लीला–प्रसंग–सिद्धि !

इस पद्यमें **"अनुष्टुप्"**– छन्द है । इसके चारों

चरणमें पाँचवा अक्षर तथा दूसरा – चौथाका सप्तमाक्षर ह्रस्व (लघु) होता है । छठा अक्षर दीर्घ(गुरु) होता है । दूसरे अक्षरोंके लिये नियम नहीं है । यह लक्षण है । “**पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः । गुरु पष्ठं च जानीयात् शेणेष्वनियमो मतः ॥**” अथवा, अष्टाक्षर होनेसे भी अनुष्टुप् मानतें हैं ।

कदाचित् मन्दभाग्य होने पर भी भक्त भगवानकी कृपाकी आशा कभी भी छोडता नहीं है, यह स्वोद्गारसे बतातें है,–

विज्ञप्ति :

आशातृणावलम्बेन त्वद्वियोगाधिवारिधिम् ।
अनुगहग्ररिष्टोऽतितरामीह तराम्यहम् ॥७॥

अन्वयार्थ :

अनुग्रह – गरिष्ठः = (आपकी इच्छाके अनुरूप वरणसे हुए) अनुग्रहसे अतिभारी (बलवान्), **अहं** = मैं, **त्वद् – वियोगगाधि – वारिधिं** (त्वद्–वियोग–आधि–वारिधिं) = आपके वियोग से हुअे मनो दुःखके समुद्रको, **आशा–तृणावलाम्बेन** (आशा–तृण–अवलम्बेन) = आशाके तृण (घास) के आधारसे, **इह** = यहाँ, (इस दशामें), **अतितरामि** = मैं संपूर्ण – रूपसे तैरता हूँ, **तरामि** = तैरता हूँ । (अवश्य तैर जाऊँगा, – छ मासके स्वल्प निकट कालमें यह विप्रयोगदशा नहीं रहेगी ।)

भावार्थः

(आपके) अनुग्रहका प्रतापबल – वाला मैं आपके वियोगसे हुए मनोदुःखके समुद्रको आशाके तृणके आधारसे यहाँ संपूर्ण–रूपसे अवश्य तैर जाऊँगा ।

मञ्जुश्री :

भक्तको भगवानकी ही आशा होती है :

सामान्य स्वजनका वियोग भी स्नेहाभास–रूप मोहसे संसारिजनोंको अगाध असह्य लगता है । भक्त और भगवानका स्नेह तो सुदृढ सर्वाधिक वास्तव होता है । जितना स्नेह अधिक इतना इससे हुआ दुःख भी अधिक ! भक्तका भगवद् – वियोगका दुःख तो वारिधि जैसा अगाध अमाप असह्य अनंत होता है । भगवान्को तो आत्मरूपतासे, भक्तवश्यतासे, सत्यवाक्तासे, स्वभावतः वियोग नहीं भी लगता होगा कदाचित्,– “भ्रमरगीत”के ज्ञानसंदेशकी रीतसे ‼ भक्तको तो अज्ञानादिवश स्नेहकी सान्द्रता (गाढता)की स्वाभाविकतासे अगाघ दुःख विप्रयोगका होता है ।

इस वियोगके वारिधिको तैरनेका साधन तो है, – भक्तके पासमें केवल –“**आशा** !” श्रीभागवत (१०–२९–३३) “प्रणयगीत”में श्रीगोपीजन भी, कहती हैं,– “**आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र !**” – लंबे समयसे आपमें हम आशाभरी है, इसको कमल (कोमल) नेत्र (वाले, आप)! नष्ट न करें ! भक्त तो हमेशां भगवानकी ही आशा रखतें हैं ।

भगवान् एवं भगवदीयके सिवाय अन्य किसीकी भी आशा रखना भक्तिमार्गमें तो अन्याश्रय है,– महाबाधक है । आशा तो जीवकी है ! दुर्बल–तुच्छ –

जीवकी आशा भी दुर्बल – तुच्छ, तृण – (तिनका) – जैसी ! तिनकासे क्या कोई समुद्र तैर सकता है ?! दुर्बल जीवकी दुर्बल(संयोगकी) आशासे क्या वियोग–वारिधि तैरा जा सकता है ?!

विरुद्धर्माश्रयी कृपाः

फिर भी मैं अवश्य तैर जाऊँगा – तैर भी रहा हूँ । कष्टसे नहीं, स्वल्प भागको ही नहीं; सरलतासे संपूर्ण रूपसे वियोग–समुद्र मैं जरूर तैर जाऊँगा ; मेरे – (जीवके) – पर हुई आपकी प्रबल कृपासे ही ! **“कृपु सामर्थ्ये”** धातुपाठ है । कृपा तो असमर्थको भी समर्थ बनाती है, हीनको उत्तम बनाती है, सामान्यको असामान्य बनाती है, भोगरतको भगवद्रत बनाती है, उद्विग्नको आनन्दित कर देती है । जनको अजन (भगवान्) के स्वजन बनाती है,– कृपा ! कृपा तो मूक (गूंगे)को वाणीसे परिपूर्ण(वाचाल) बनाती है, पंगुको पर्वतका उल्लंघन कराती है । विशिष्टता तो है कि वही कृपा कभी जीवहित एवं लीलाके लिये, वाचालको मूक बना देती है, पर्वत लांघनेवालेको पंगु बनाती है !!! जेसे समर्थ अर्जुनको सामान्य गोपोंके सामने अबलाकी तरह पराजित बना दिया !!! विरुद्धधर्माश्रयी भगवानकी कृपा भी विरुद्धधर्माश्रयी है न ?!

अगाध कृपा : बाह्य प्राकट्यसे ईश्वरवाद :

भक्तोंको तो केवल भगवानकी कृपाका ही सामर्थ्य होता है । विप्रयोग भगवानका अगाध ! कृपा भगवानकी अगाध ! कृपाका प्रताप – बल – भी

अगाध ! अगाध विप्रयोग अगाध कृपासे ही तैरा जा सकता है । कृपासे विप्रयोग देते हुए भगवान् कृपासे ही **प्रकट** होकर संयोग देतें हैं । कृपाके बलसे ही विप्रयोग–सागर तैर जातें हैं भक्त, – डूब नहीं जातें हैं ! केवल विप्रयोग ही नहीं रहता है, पुष्ट – संयोग बादमें मिलता है । बाह्य प्राकट्य – संयोग – भी तो फलरूप है । बाहृय प्राकट्यसे तो ईश्वरवाद है, नहीं तो शून्यवाद ! सर्वसमर्थ भगवान् विकाररहित आकारका स्वीकार करतें हैं, साकार स्वरूप प्रकट करतें हैं ।

कृपासे तैरनेमें अचल विश्वास है, आदर है, इसलिये तो **“तरामि”** – द्विरुक्ति (वीप्सा–निरंतरता) मैं है । अविश्वास तो सर्वथा बाधक है, – मेघनादके ब्रह्मास्त्रकी तरह ; और दृढविश्वास सर्वथा साधक है, – चातक मेघजलकी तरह ! **“करिष्यतीति विश्वासः ।”** – श्रीमहाप्रभुजीने आज्ञा की है । भगवान् कृपा एवं – भक्तहित – **“निजेच्छातः”** –करेंगे, – एवं ऐसा विश्वास तो भक्तको आवश्यक है । जीवकी आशाका बल तो अल्प है, प्रभुकी कृपाका बल तो अनल्प है । जीवको कृतार्थ करती है–कृपा !

इस श्लोकमें भी पूर्ववत् **“अनुष्टुप्”**– वृत्त है ।

भगवानमें – इनकी कृपामें – अचल विश्वास होते हुए भी, आप संताप –प्रलाप करतें तो हैं ही ! उसका कारण दिखातें हैं,–

विज्ञप्ति :

अम्बुदस्य स्वभावोऽयं समये वारि मुञ्चति ।

तथापि चातकः खिन्नो रटत्येव न संशय : ॥८॥

अन्वयार्थ :

अम्बुदस्य = (सजल) मेघका, **अयं** = यह, **स्वभावः** = स्वभाव,(है, कि), **समये** = (योग्य) समय आने पर, **वारि** = जल, **मुञ्चति** = छोडता (बरसाता) है, **तथापि** = फिर भी, **खिन्नः** = (बर्षा होनेके पहले) खिन्न, **चातकः** = चातकपक्षी, **रटति** = रटता है, **एव** = ही, **संशयः** = (इसमें) संशय, **न** = नहीं है ।

भावार्थ :

सजल मेधका यह स्वभाव है कि समय आने पर जल छोडता (बरसाता) है, फिर भी खिन्न (खेदवाला) चातकपक्षी रटता है ही, (इसमें) संशय नहीं है ।

मञ्जुश्री :

कृपा तो कृष्णका स्वभाव है और भक्तका विश्वास है :

मेघका स्वभाव है, – वर्षा ऋतुमें बरसना, अपना जल तृषार्तोंको देना । स्वाभाविकतामें श्रम नहीं है, परोपकारादि दृष्टि भी नहीं है । निश्चित रूपसे बरसता है – मेघ ! – सामने चल कर ! वह भी किसीके भी प्रयत्न – पात्रता – इच्छाकी भी अपेक्षा रखे बिना ही ! कथा है यह सजल मेघकी ! जल रस है, जीवन है ।

ऐसी ही रसमय रसवर्षक रसदाता मेघश्याम कृपालु भगवान् श्रीकृष्णकी कथा है ! कृपारस बरसाना

इनका तो स्वभाव ही है । भक्तों पर आप कृपारस – दानको उपकार नहीं मानतें हैं । भक्तोंकी पात्रता–प्रयत्न–इच्छा के भी बिना आप कृपा रस–वर्षा करतें हैं । – जब समय होता है तब ! यह समय है, – निजेच्छा ! निश्चित – रूपमें कृष्ण कृपा करतें ही है । – सामने चल कर ! इसमें तो अचल विश्वास भक्तका है, स्वभाव भगवानका है ।

मेघका अनन्य होता है,– चातक ! जलाशय कितने भी सुलभ होने पर भी वह जल नहीं ही पीता है ! मेघका स्वाति–नक्षत्रमें बरसा हुआ पानी, सीधे बुंद या धाराके रूपमें होता है वही, चातक पीता है, तृषा तृप्त करता है; फिर कभी कहीं से वो पानी पीता नहीं है । वर्षाकालमें मेघको देखकर तृषार्त चातक रटता है,– चिल्लाता है, उसका यही तो स्वभाव है ।

ऐसे ही, रसमय मेघश्याम श्रीकृष्णके अनन्य भक्त अपने प्रेमरूप स्वामी श्रीकृष्णके सिवाय और किसीके पास कुछ भी कामना करतें नहीं हैं, अन्यकी कोई आशा भी रखतें नहीं हैं । सर्वत्र सबकुछ उपयोगी आवश्यक सुलभ होने पर भी तनिक कामना भी अनन्य भक्त करतें नहीं हैं; लेनेकातो दूर रहा ! भक्तिमार्गमें भगवान् मेघश्याम श्रीकृष्णको देखकर तडपते हुए भक्त पुकारतें हैं, चिल्लातें हैं, रटते रहते हैं । यह तो चातक जैसे हैं, उनका यही तो स्वभाव है ।

मेघका स्वभाव है, समय पर बरसनेका; चातकका स्वभाव है, रटते रहनेका ! मेघश्याम भगवान्का स्वभाव है, कृपा बरसाना, रसदान–संयोगसुख –देना !

अनन्य भक्तका स्वभाव है,– भगवानके पास ही, कृपा–प्रसन्नताके लिये आतुरतासे रटते रहना ! सब है ही स्वभाव वश ! स्वभाव–वश कार्य तो अहैतुक – अनायास होता है । भगवानकी कृपावृष्टि और भक्तका आर्तरटण स्वाभाविक ही है ! उमयत्र संशय ही नहीं है । उभयके उभयकार्य नियत है, निश्चित है । श्रीगोपालदासजी काशीमें अपने श्रीठाकोरजी श्रीमदनमोहनजीको आतुरतासे पुकारा ही करते थे । श्रीमदनमोहनजी प्रत्युत्तर भी देते ही रहते थे ! भक्तने प्रभुको ऐसा श्रम न करनेकी विनंती की ! अपना तो स्वभाव है, – पुकारना । प्रभुका स्वभाव है, – उत्तर देनेका ! परस्पर स्वाभाविकता है ।

यहाँ पूर्ववत् **अनुष्टुप्** छंद है ।

चातकके रटणकी स्वाभाविकतासे, विप्रयोगमें भी मानस–प्रत्यक्ष प्रभुको आतुरभावसे पुकारतें हैं,–

विज्ञप्ति :

यद्यप्यहमपराधी तथापि तव चरणसेवकोऽस्म्येव ।
एवं सत्येवंकरणं नैवोचितं नाथ ॥९॥

अन्वयार्थ :

नाथ = हे नाथ ! **यद्यपि** – **(यदि–अपि)** = जो कि, **अहं** = मैं, **अपराधी** = अपराधवाला, (हूँ), **तथापि** – **(तथा–अपि)** –फिर भी, **तव** = तुम्हारा, **चरण** – **सेवकः** = चरणसेवक, **अस्मि** = (मैं) हूँ, **एव** = ही, **एवं सति** = इस प्रकार (सेवक) होते हुए, **मयि** = मेरे प्रति, **एवं** = इस प्रकार (विरह दान – त्याग), **करणं** = करना, **उचितं** = उचित (योग्य), **न** = नहीं, **एव** = ही, (है) ।

भावार्थ :

हे नाथ ! जो कि मैं अपराधी हूँ, फिर भी तुम्हारा चरणसेवक (दास) हूँ ही; इस प्रकार (दास) होते हुए, मेरे प्रति इस प्रकार (वियोग) करना उचित नहीं ही है ।

मञ्जुश्री :

भक्तकी स्वाभाविकता है,–दोषका स्वीकार :

सामान्य मानव भूल–दोष–अपराध तो करता ही है । यह तो क्षम्य भी होता है, परंतु भूल करके भूल जाना वा भूला देना, भूलके लिये दंभ–बचाव – दलीलें – करना, तो अक्षम्य ही है । इससे भूल – दोष – अपराध (छिपानेसे) तो सुरक्षित रहकर विकसित होते रहतें हैं । भक्त तो अपने दोष – अपराध – भूलोंका स्वीकार सरलतासे कर लेतें हैं । श्रीनरसिंह महेता कहतें हैं,–“ **अमे एवारे अमे एवारे, तमे कहो छो रे वळी तेवारे ।**” आरोपित दोषोंका भी स्वीकार भक्त तो कर लेतें हैं । वे तो निर्दोष होते हैं । दोषोंके प्रकट कहके स्वीकारसे दोष दूर हो जातें हैं निर्दोष होनेका दिखावा तो संसारी को करना पडता है । भक्तिमार्गकी यह स्वाभाविकता व्यक्त करते हुए श्रीगुसांईजीने अपराधका निर्विवाद – रूपमें स्वीकार कर लिया । मैं अपराधी तो हूँ ; परंतु इतनेसे बात पूरी नहीं हो जाती है । महत्त्वकी बात तो यह है कि, – मैं तुम्हारा –

(भगवान् श्रीकृष्णका) चरणदास हूँ ।

दोष दुर्बल हैं, दासत्व प्रबल है :

जीवगत दोष और दासत्व दोनों साथमें हैं ! दोष जीवके, – दुर्बल ! और दासत्व तो भगवानका, – प्रबल ! प्रबलके सामने दोष दब जाय , दूर हो जाय, टिके ही कैसे ?! दासत्वके सामने दोष दब जातें हैं, दूर हो जातें हैं । “सिद्धान्त–रहस्य” में स्फुट है, – ब्रह्म संबंध–करणसे (दासत्वसे) देह–जीवके सर्वदोषकी निवृत्ति हो जाती है, दोष दब जातें हैं, अकिञ्चित्कर हो जाते हैं, सेवामें बाधक नहीं होते हैं । दासत्व ही मुख्य होता है ।

स्वामि–सेवक–संबंध : प्रभु तो भक्तोके नाथ हैं :

दास तो देनेवाला होता है, लेनेवाला नहीं । दास स्वामीको सुख देना चाहता है,– सेवक है । वह स्वामीसे सुख लेना नहीं चाहता । कुछ लेनेके लिये सेवा करे वह सेवक नहीं, सेवा कराने के लिये कुछ दे तो वह स्वामी नहीं । ये दोनों तो नौकर–शेठ होतें हैं, – लौकिक ! – अलौकिक स्वामी – सेवक नहीं ! दास सेवामें उदास नहीं होता; तो दासके साथ वह सेवा ही न कर सके ऐसा करना – (विप्रयोग देना, त्याग करना) – उचित नहीं है । अलौकिक स्वामी – भगवानके लिये तो यह सर्वथा अनुचित है । प्रेमोद्रेकमें स्वामीको भी उचित–अनुचित का विवेक दास दिखा देता है !! प्रभुको – समर्थस्वामीको – भक्तिमार्गमें “**नाथ**” कहा जाता है । “**नाथृ याञ्चोपतापैश्वर्यादिषु**” – धातुपाठ है । याञ्चा, उपताप एवं ऐश्वर्यादि जिसके पास स्वाभाविक हो जाय यह “**नाथ**” है । अनाथको सनाथ बनाने वाला “**नाथ**”–यही श्रीनाथ है । भक्त इनको न पुकारे तो पुकारे किसको ?! सर्वत्र साथ देनेवाला, हाथ पकडने वाला, जीवनपाथ देने–वाला नाथ ही श्रीनाथ है । केवल वह श्रीकालक्ष्मीजी वा स्वामिनीजीका–ही परिमिति नाथ नहीं रहा है, सब भक्तोंका अपरिमित नाथ बन गया है, – अपनी स्वतंत्र–कृपासे ! उसको अब ऐसा (त्याग) करना उचित कैसे है ?! – नहीं ही है ।

इस श्लोकमें “**आर्या**” – छन्द है । सामान्यतः “आर्या”– मात्राच्छन्दमें १२–१८;१२–१५ मात्राके चार चरण होते हैं ॥

भगवान् भक्तके ऐसे त्यागसे क्या अन्य भी अनुचित करतें हैं, वह दिखातें हैं,–

विज्ञप्ति :

कालकर्माधीनतां यत्करोषि मयि सुन्दर ।
तदप्यनुचितं यस्मात्त्वदीयोऽस्म्युररीकृतः ॥१०॥

अन्वयार्थ :

सुन्दर = हे सुन्दर !, **मयि** = मेरे लिये (मुझमें, मेरे प्रति), **काल–कर्माधीनतां (काल–कर्म–अधीनतां)** = काल और कर्मकी अधीनता (कालकर्मको वश होना), **यत्** = जो, **करोषि** = तुम करते हो, **तत्** = वह, **अपि** = भी , **अनुचितं** = अनुचित है, **यस्मात्** = क्योंकि (जिस कारणसे, जिससे), **उररी–कृतः** =

(मैं)स्वीकृत (अंगीकृत), **त्वदीयः** = तुम्हारा, **अस्मि** = हूँ ।

भावार्थ :

हे सुन्दर ! (मेरे लिये) मुझे काल–कर्मको वश (होना) जो तुम करते हो वह भी अनुचित है । क्योकि (मैं) तुम्हारा अंगीकृत हूँ ।

मञ्जुश्री :

स्नेहवाला – भक्त; अंगीकृत – भगवदीय :

भगवान् भक्तको अपनी कृपासे अपना बनातें हैं– जीव यद्यपि है तो भगवानका ही अंश, परंतु भगवदिच्छासे कोई काल–प्रवाहमें स्वमनके अनुरूप जीता है, कोई शास्त्रानुरूप जीता है, कोई भगवदनुरूप जीता है । यह सब भी है तो भगवानकी ही विचित्रलीला ! अपनी इच्छानुरूप वरणसे कृपा करके जीवको तो काल–कर्म–प्रवाहसे बचाकर अपनेमें स्नेह करातें हैं,– भगवान् ! तब जीवको स्नेह – भक्ति मिलती है, भक्त होता है । भगवान् जब इसका स्वीकार करें तब वह भगवदीय होता है । कृपा एवं पुष्टि तो भगवानका असाधारण सामर्थ्य है – वीर्य है । काल–कर्म– स्वभावको निवृत्त करनेवाला वीर्य विशेषरूप भगव-त्सामर्थ्य अनुग्रह – कृपा – पुष्टि – नामसे प्रसिद्ध है ।

भगवानने अनुग्रहसे जिसका अंगीकार किया, जिसको – अपना– भगवदीय–बनाया, वह तो भगवत्सामर्थ्यसे काल–कर्म–स्वभावसे पर हो जाता है ।

काल–कर्म–स्वभावकी वशमें भगवदीय नहीं रहतें हैं । यह तो भगवानकी शोभा है,– स्वभाव–सुन्दरता है । स्वभाव–स्वरूप उभयमें सुन्दर है,– भगवान् ! भगवान् अगर अंगीकृत भगवदीयको छोड दें, काल–कर्म–स्वभावकी वशमें कर दें, तो इसमें भगवानकी सुन्दरता – शोभा – नहीं है । इस लिये अनुचित है । भगवान् भक्तको छोडे वह अनुचित है और काल–कर्म–स्वभावकी वशमें कर दे वह भी अनुचित ! में आपका हूँ । मुझे ऐसा करना अनुचित है ।

इस पद्यमें **"अनुष्टुप्"** छन्द है । यहाँ प्रथम चरणका पंचमाक्षर गुरु है । यह छंदोभंग सा तो विप्रयोगकी स्वाभाविकी शोभा है या लक्षण वैकल्पिक है । भगवानके पास ऐसी बात बतानेका कारण क़हते हैं,

विज्ञप्ति :

स्वतन्त्रत्वेन मर्यादां मनुषे नैव चेत्प्रभो ।
श्रीगोकुलप्रभुरसि तेनैवं दीनतां ब्रुवे ॥११॥

अन्वयार्थ :

प्रभो = हे(समर्थ–स्वामिन्–) प्रभो ! **स्वतन्त्रत्वेन** = (आपके) स्वतंत्रपनासे, **मर्यादां** = (लोक – वेद – स्वरूप – वा अंगीकृत – परिपालनकी) मर्यादाको , (आप) **चेत्** = अगर, **न** = नहीं, **एव** = ही, **मनुषे** = मानते हो (स्वीकारते हो), (तो भी) **श्रीगोकुल–प्रभुः** = श्रीगोकुलके स्वामी, **असित** = (तुम) हो, **तेन** = इस लिये, **एवं** = इस प्रकार, **दीनतां** = दीनता (के वाक्य), **ब्रुवे** = मैं कहता हूँ ।

भावार्थ :

हे प्रभो ! (आप) स्वतंत्र होनेसे मर्यादाको अगर (आप) नहीं ही मानते हो (तो भी), श्रीगोकुलके स्वामी तुम हो, इसलिये इसप्रकार दीनता(के वाक्य) मैं बोलता हूँ ।

मञ्जुश्री :

मर्यादाका उल्लंघन पुष्टि है, मर्यादा तोडना आसुर है :

सामान्य समाजको सुख–शान्ति–प्रगति–सद्‌गति–आदि लोक और वेदकी शिष्टाचार–मर्यादामें रहनेसे सुलभ होतें हैं । वह सीमाओंको तोडने – फोडनेसे शांति–सुखादि सूख जातें हैं । भगवान् भी निजलीलाके लिये अवतार–दशामें स्वेच्छासे सामान्यतः लोक–वेद–मर्यादा रखते भी हैं । अपनी स्वरूपमर्यादा भी रखतें हैं ; परंतु आप स्वतंत्र होनेसे मर्यादाको कभी स्वतंत्र–पुष्टि –लीलाके लिये नहीं भी रखते हैं, मर्यादाका उल्लंघन करतें हैं । आप मर्यादा को तोडते नहीं है । मर्यादा तोडनेका काम तो असुर करतें हैं । भगवान् – भगवदीय तो मर्यादाको अक्षुण्ण रखकर उसका उल्लघन ही करतें हैं, मर्यादाको नष्ट नहीं कर देतें हैं । जैसे कि नदीमें भारी बाढ कभी आती है, तो वह कभी पूलको तोड कर बढती – चलती है, कभी पूलको यथावत् रखके उपरसे बह जाती है । पूल – सेतु – मर्यादा है । उसको तोडना आसुरकार्य है । उसको लांघना, उसका उल्लंघन करना, उससे ऊँचे

उठना, पर हो जाना, पुष्टि है । प्रभु पुष्टिलीलामें मर्यादाका अतिक्रम करतें हैं ।

प्रभु शास्त्रकक्षासे पर : पशु शास्त्रकक्षासे नीचे :

दासधर्म : इसमें – मर्यादा और पुष्टि :

लोक–शास्त्र (वेद)–के नियंत्रण (मर्यादा) पुरुष (मानव)के लिये होतें हैं, पशुके एवं प्रभुके लिये है ही नहीं । पशु मर्यादासे अति निम्नकोटिमें – हीन – हैं । प्रभु मर्यादासे अतिशय उच्च कोटिमें – सर्वोत्तम– हैं । पशु तो शास्त्रकक्षा तक आनेकी बुद्धि–योग्यतामें है ही नहीं; और प्रभु तो शास्त्रकक्षा से पर होनेसे, अपनी इच्छासे मर्यादा रखते भी हैं, नहीं भी रखतें हैं । सर्वसमर्थ – सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होनेसे भगवान् कोई भी बंधन मर्यादामें बंधे हुए, मर्यादित हो सकतें ही नहीं हुए, हैं । निर्दोष भगवानकी निर्दोष ही लीला है, – मर्यादाके अतिक्रममें भी ! दास तो स्वामीको बोल भी क्या सकता है ?! स्वामी जो कुछ करें वह सब दासको स्वीकार्य – आवकार्य ही होता है । यह तो दासधर्म है ।

परंतु, आप तो श्रीगोकुलके स्वामी हो ! हम आपके अंगीकृत हैं । श्रीगोकुलमें तो आप निःसाधन–जनके अंगीकार उद्धार के लिये प्रकट पधारे हो । यह तो पुष्टि है । आपके वशमें सब कुछ है, परंतु पुष्टिमें – श्रीगोकुलमें – तो आप भक्तवश हो । लोक – वेद – स्वरूप – मर्यादाओंका उल्लंघन तो आप निजजनोंके लिये पुष्टिलीलामें करते ही हो

आपका पुष्टिजीव काल–कर्म–स्वभावादिकी वशतामें नहीं होता है, । वह तो होता है,– कृष्णवशतामें ! कृष्णकी वशमें रहनेमें तो कृष्णाधीना तो मर्यादा है, कृष्णको वशमें रखनेमें वा कृष्ण वशमें रहें – इसमें, स्वाधीना ही तो पुष्टि है ! पुष्टिस्थ आप, हमको निजांगीकृत पुष्टिस्थको, अब काल–कर्माधीनताकी मर्यादामें क्यों डालते हो ?!! पुष्टि प्रभु को पुष्टिभक्त तो दीनतासे यह कह सकता है । इसलिये तो मैं ऐसी दीनता कर रहा हूँ । अपने स्वामीको नहीं कहे तो कहें भी किसको ?! परंतु क्रोध–अभाव आदि नहीं, दीनता ही है । दीनतामें मधुरता - नम्रता होती है ।

यहाँ **"अनुष्टुप्"** छंद है । तृतीय चरणमें छंदोलक्षणका उल्लंघन छट्ठा अक्षरका गुरु न होना, पुष्टि है, अथवा वैकल्पिक है । पुष्टिभक्त एवं पुष्टिप्रभुकी अब विशेषता आप दिखाते हुए विज्ञप्ति करतें हैं,–

विज्ञप्ति :

सर्वसाधनशून्योऽहं सर्वसामर्थ्यवान्भवान् ।
श्रीगोकुलप्राणनाथ न त्याज्योऽहं कदापि वै ॥१२॥

अन्वयार्थ :

श्रीगोकुल–प्राणनाथ = हे श्रीगोकुलके प्राणोंके नाथ ! **अहं** = मैं, (जीव), **सर्व–साधन–शून्यः** = (उन्नति, सफलता, सुख, कल्याण, मोक्ष, भगवत् – प्राप्तिके) सर्व साधनोंसे रहित (निःसाधन), (हूँ), **भवान्** = आप, **सर्व–सामर्थ्यवान्** = (करनेके लिये, न करनेके लिये, अन्यथा करनेके लिये) सर्व–सामर्थ्यवालें (हैं), **अहं** = मैं (आपका दास), **वै** = निश्चय–पूर्वक, **कदा** = कभी, **अपि** = भी, **त्याज्यः** = त्यजने योग्य (शक्य), **न** = नहीं (हूँ) ।

भावार्थ :

हे श्रीगोकुलके प्राणोंके नाथ ! मैं सर्वसाधनोंसे रहित (निःसाधन) हूँ, आप सर्वसामर्थ्यवालें हैं, मैं निश्चयपूर्वक कभी भी त्यजने योग्य नहीं हूँ ।

मञ्जुश्री :

निःसाधन – स्वजनोंके साधन–फल–रूप हैं, – श्रीगोकुलप्राणनाथ ! :

श्रीगोवर्धननाथजी तो श्रीगोकुलके प्राणनाथ हैं । प्राणोंके कारण ही शरीर जीवंत क्रियाक्षम रहता है , इन्द्रियाँ भी मुख्यप्राणके कारण ही कार्यान्वित होती हैं । प्राण चले जाने से देहेन्द्रिय कुछ कर ही नहीं सकतें हैं । सामान्यतः संसारीओंके, प्राण भी कर्माधीन रहतें हैं । कर्मके फल कृष्णाधीन होते है । श्रीगोकुलके तो प्राण ही कृष्णाधीन हैं, और कृष्ण तो भक्ताधीन हैं । भले – भोले भाले ब्रजवासीओंको कोई साधनोंका ज्ञान (सम्पत्ति) है ही नहीं । सब निःसाधन हैं, और ऐसे निःसाधन गोकुलको फलात्मा कृष्ण मिल गयें हैं, – केवल कृपासे ही ! शास्त्र एवं लोकमें शिष्ट साधन एवं दुष्ट साधनवालोंके साधन – फल प्रसिद्ध हैं; परंतु शिष्ट या दुष्ट साधन जाने नहीं, होवे नहीं, कर सके नहीं, ये सब निःसाधन हैं । उनके साधन–फल

प्रसिद्ध नहीं हैं । स्वयं भगवान् ही निजेच्छासे लीलार्थ ही इनके साधन एवं फलरूप हो गये !! यही तो पुष्टि है । पहले तो गोकुल केवल गाय–गोपोंका वासस्थान था, अब साकार सर्वसुन्दर सदानन्द परम फलात्मक ! गोविंद पधारे इसमें ! गोकुलकी शोभा आप ही हो गये, – "**श्रीगोकुलमण्डन !**" पहले गोकुल स्वर्ग जैसा था, अब भगवानकी पदाम्बुजलक्ष्मी गोकुलको मिली ! गोकुल प्रभुके चरणचिह्नोंसे अंकित हो गया, वैकुंठसे भी विशिष्ट हो गया,–पदाम्बुज लक्ष्मी और मुखाम्बुज लक्ष्मीसे ! जहाँ हजारों ब्रजलक्ष्मीयाँ तो सेवामें लीलापूर्वक निरंतर तत्पर है ही ! वैकुण्ठलक्ष्मी भी आश्रय लेकर नित्य निवास करनेको गोकुलमें आई ! गोकुल – "**श्रीगोकुल**" हो गया !!! सब कृष्णाधीन ! नहीं सबको कृष्ण ही अधीन !!! श्रीगोकुलके नाथ भी श्रीगोकुल जिसका नाथ है, – ऐसें हैं !!! गोकुलको कृष्णने क्या नहीं दिया ?! लोक–वेद स्वरूपकी भी मर्यादा छोडकर कृतार्थ कर दिया, अपना अंगीकृत आत्मीय बना दिया !

स्वजनोंको निर्दोष बनाते है, – भगवान् ! :

गोविन्दने ही इन्द्रपूजा परायण गोकुलको इन्द्रकोपमेंसे स्वबलसे बचाया । – अपना दृढ अनन्य – आश्रय दिया ! गोचारणमें तृणलोभसे दूर जानेवाली गायोंके पीछे पीछे घूमते, पासमें बुलातें, पुकारतें रहतें हैं, – आप ! आप अपने जनोंको छोडते कभी भी नहीं हैं, । जीवके दोषोंकी ओर देखतें नहीं हैं । आप निर्दोष

हैं, स्वजनोंको निर्दोष बना देतें हैं । प्राण जैसे देहेन्द्रियको सामर्थ्य देकर कार्य करातें हैं, ऐसे भगवान् श्रीगोकुलके प्राणनाथ, जिसका श्रीगोकुलप्राणनाथ हैं, अपने सामर्थ्यसे स्वजन – गोकुल – को समर्थ बना देतें हैं । अग्निके संपर्कसे उष्मा स्वाभाविक आती ही है, – ऐसे ।

मेरे दोष होते हुए भी, मैं सर्वसाधन–शून्य होने पर भी, आपका ही हूँ । श्रीगोकुल आपका है, आप इसका त्याग नहीं ही करतें हैं । आपकी यह स्वाभाविकता है, शोभा है, श्री है । इस लिये मैं त्याज्य नहीं ही हूँ । श्रीमहाप्रभुजीको आपने बचन भी दिया है, – ब्रह्मसंबंधसे जो जीवका अंगीकार होगा उसको आप छोडेंगे नहीं ! पंडित रामानन्दजीका पक्ष इस तरह आपने किया भी है । "वैष्णव गोबर ले जायेंगे",–ऐसा कहा रामानन्दजीने उनकी पत्नीको वैष्णव तो श्रीगोपीजन भी हैं । इससे, अविचारित वाणीके अपराधसे, श्रीमहाप्रभुजीने रामानन्दतो त्याग वाणीसे किया । इस आघातसे, रामानन्दतो पागल हो गये । एक समय बाजारमेंसे जलेबी "श्रीनाथजी आरोगना" – कहके धराई । श्रीनाथजीके मुखमें उसका टुक श्रीमहाप्रभुजीने देखा । प्रभुके पक्षपातसे, पुनः लाख जन्ममें अंगीकारकी कृपा की । प्रभुने ब्रह्मसंबंधसे अंगीकृतको नहीं छोडा । प्रसंग प्रसिद्ध है । लीला एवं ब्रह्मसंबंध–बचन दोनों प्रकारसे निश्चय–पूर्वक मैं त्याज्य नहीं हूँ । कोई एकाध प्रसंगमें ही नहीं, "**कदापि**"– किसी भी हालतमें, कोई भी संयोगोमें, अंगीकृत जीव,

मैं, त्यजवे योग्य नहीं ही हूँ ।

इस श्लोकमें "अनुष्टुप्" छन्द है ।

सर्वसमर्थ प्रभु तो स्वयं ही सबकुछ करतें हैं ।

कहनेसे क्या होता है ?! यह कहते हैं,

विज्ञप्ति :

यत्करिष्यसि तन्नाथ स्वत एव करिष्यसि ।
अतो मुहुः किं वदामि श्रीगोपीजनवल्लभ ॥१३॥

अन्वयार्थः

नाथ – हे नाथ ! , **यत्** = जो (कुछ भी), **करिष्यसि** = तुम करोगे, **तत्** = वह, **स्वतः** = अपने आप, **एव** = ही, **करिष्यसि** = करोंगे, **अतः** = इससे, **श्रीगोपीजन–वल्लभ** = हे श्रीगोपीजन – वल्लभ ! **मुहुः** = बारबार, **किं** = क्या ?, **वदामि** = कहूँ ?!

भावार्थ :

हे नाथ ! जो तुम करोगे वह अपने आप ही करोगे, इसलिये हे श्रीगोपीजनवल्लभ ! बारबार क्या कहूँ ?!

मञ्जुश्रीः

पुष्टिभक्तको भगवानसे कुछ कहना नहीं होता है :

भगवान् सर्वसमर्थ है, अपने अंगीकृत जीवोंके लिये तो अपने आप सबकुछ करतें ही हैं । अपनी इच्छासे, अपनी लीलानुसार ही आप करतें हैं । किसीके दबाबसे कुछ नहीं करतें सर्वसमर्थ हैं, सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र हैं । "**सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ।**" – कालादिके भी नियामक, अंगीकृतोंके फलदाता, सब आत्मनिवेदी भक्तोंको अपने बनानेके लिये आत्मीयता देनेसे सबकी आत्मा, सब आत्माओंके प्रेरक,– सर्वात्मा, परमात्मा, आत्माओंकी आत्मा, भगवान् ही है । आप सबकुछ स्वेच्छासे ही करतें हैं । परंतु आप भक्तवत्सल करुणालु होनेसे निजभक्तोंकी प्रचुर अविकृत (प्रकृतिके गुणक्षोभरहित) – इच्छानुसार भी करतें हैं, ऐसे प्रभुको कहना क्या ?! अगर इनके हम अंगीकृत निजजन हैं तो बिना बोले ही अपना इच्छित होगा ही । नहीं होंगे ऐसे भक्त तो भगवदिच्छानुसार ही होगा ! फिर भी बोलनेसे क्या ?! दासका धर्म तो प्रभु जो कुछ करें वह प्रसन्नतासे स्वीकारनेका है; और भगवदिच्छा जान भी कौन सकता है ?! तो,– "**प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ॥**" – प्रार्थनासे, बारबार बोलनेसे, वा माँगने से, भी क्या होगा ?! –कुछ नहीं !!! तो फिर बारबार क्या बोलना ?! क्यों बोलना ?! अपने आप जो कुछ भी करेंगे वह ही करेंगे । आप तो श्रीगोपीजन–वल्लभ हैं । आप श्रीगोपीजनोंके प्रिय ! आपको श्रीगोपीजन प्रिय ! परस्पर प्रेम है, यह तो "**श्री**" है, शोभा है,– भक्ति–मार्गमें ! आपके लिये श्रीगोपीजन और श्रीगोपीजनके लिये आप सब कुछ स्वतः ही बिना कहें ही करतें हैं । हम भी श्रीगोपीजन के मार्गमें हैं । आपके हैं । आप स्वतः जो करना है वह करेंगे । बोलना बारबार क्यों ? नाथ हो ! यहाँ "अनुष्टुप्" छन्द है ।

श्रीगोपीजनकी महत्ता बतानेके लिये, इनके चरणरेणुकी महत्ता बतातें हैं,–

विज्ञप्ति :

एकोऽपि रेणुर्व्रजभूषणाढया पातुं क्षमः सर्वत एव सर्वम्।
अशेषतत्पादसरोजरेणु–सनाथसर्वस्य कुतोऽस्ति मे भीः॥१४॥

अन्वयार्थ :

व्रज–भूषणाढयाः **(व्रज–भूषण–आढयाः)** = व्रजके भूषणरूप भगवानसे जो समृद्ध हैं ऐसी श्रीगोपीजनकी, (अथवा व्रजके भूषण रूप भगवान् जिनसे समृद्ध है), **एकः** = एक, **अपि** = भी, **रेणुः** = (चरणकी) रज, **सर्वं** = सबकी, **सर्वतः** = सब तरहसे, **पातुं** = रक्षा करने के लिये, **क्षमः** = समर्थ (है), **एव** = ही, (तो), **अशेष–तत्** – **पाद–सरोज–रेणु–सनाथ –सर्वस्य** = संपूर्ण इन (श्रीगोपीजन)के चरणकमलकी रजःसे जिसका सबकुछ सनाथ हो चुका है ऐसे, **मे** = मुझे, **भीः** = भय, **कुतः** = कहाँसे, **अस्ति** = है ?

भावार्थ :

ब्रजके भूषणरूप भगवानसे जो समृद्ध हैं, (अथवा, भगवान् जिनसे समृद्ध हैं), ऐसी श्रीगोपीजनकी एक भी चरणरजः सबकी सब ओरसे रक्षा करनेके लिये समर्थ ही है, (तो) संपूर्ण इनके चरण कमलकी रजसे जिसका सब कुछ सनाथ हो गया है, ऐसे मुझे भय कहाँसे है ?!

मञ्जुश्री :

प्रेमपताका श्रीगोपीजनकी चरणरजःसे अभयलाभः

व्रजकी शोभा वृक्ष – लता – फुल – फल – पक्षी –पशु– ही नहीं है । भगवान् ही हैं – व्रजकी शोभा तो ! परंतु इस भगवानकी भी शोभा तो है,– श्रीगोपीजन ! मयूरकी शोभा जैसे उसके पंख (पिच्छ)से (होती) है, ऐसे भगवानकी शोभा भी भगवानके अनन्य–भक्तसे ही हैं । भगवानने स्वयं, कालिय – दमन – प्रसंगमें परीक्षा करके, अपने व्रजभक्तोंकी अनन्यता प्राणार्पण तत्परतासे देखी है । **"गोपी प्रेमकी ध्वजा"** – श्रीपरमानन्ददासजीने कहा हैं । प्रभु प्रेमरूप हैं, परंतु इसकी शोभा – ध्वजा – विजयपताका – तो है,– श्रीगोपीजन !

कितनी समर्थ है – आप ?! **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"** – श्रुति कहती है, – "यह आत्मा बलहीनको सुलभ नहीं है ।" प्रेम–भक्ति – बलसे ही भगवान् लभ्य है । बल इतना तो है इनमें कि स्वयं भगवान भी इनकी वशमें ही रहतें हैं !!

यही सुलभ होता है–चरणसंबंधसे ! चरणस्पर्शमें साक्षात् सम्बन्ध है; और चरणरजः – स्पर्शमें परंपरा–संबंध है । साक्षात्संबंध महत्त्वपूर्ण होते हुए भी स्वल्पकालके लिये होता है । परंपरा–संबंध तो जब तक रजःसंबंध हो तब तक रहता है, – अनल्प–कालके लिये होता है । रजःसंबंध भी भगवदीय–देह देनेमें समर्थ होनेसे महत्त्वपूर्ण है ही । भगवदीय–देह सेवोपयोगी है । इससे भगवत्संबंध एवं भगवत्प्रसन्नताका संपादन सुलभ हो जाता है । भगवान् जिसके पर प्रसन्न होतें हैं, इसको तो सब प्राणी स्वाभाविक ही नमन करतें हैं । सर्वभूतनिवास भगवान् प्रसन्न होतें तो रक्षा तो सर्वतः हो ही जाती है । वास्तवमें तो सेवालाभ ही सर्वरक्षा – रूप है, । –

सेवामें देहेन्द्रियादिकी कृतार्थतासे, भगवद्‌विनियोगसे सर्वरक्षा होती है ! व्रजभक्तकी एक ही रेणु इतनी समर्थ है, तो मुझे तो (श्रीगुसांईजीके) लीलामें अशेष–चरण–कमल– रजोभिषेकसे सनाथता है, श्रीनाथ ही साथमें है, फिर भय क्या ?! कहाँ से ?! कोईभी भय अब कुछ भी नहीं कर सकता है । यह सूचित करनेके लिये **"भी"** – शब्द स्त्रीलिंगका कहा है । भक्तचरण–रजोभिषेक–कृपासे तो अभय सिद्ध हो जाता है । ज्ञानका चरम–फल यहाँ तो प्राथमिक दशामें ही सुलभ हो जाता है । सेवा–सुख एवं सेवाफल तो भक्तको ही सुलभ है, –कृपासे ! इस श्लोकमें, **इन्द्रवज्ञा – उपेन्द्रव्रजा** के मिश्रणसे **"उपजाति"** वृत्त है ।

कोई भी भय न होते हुए भी, संयोगके बिना सुख तो नहीं है, प्रणयसे दुःख है, यह निरूपण करतें हैं,–

विज्ञप्ति :

घुणकीटवदेव योऽतरतश्चरति प्राणभृतामशेषसारम् ।
अपगच्छति नाप्युपायलक्षैर्व्रजनाथ प्रणयः स किं
सुखाय ॥१५॥

अन्वयार्थ :

व्रजनाथ = हे ब्रजनाथ !, **घुणकीटवत्** = काष्ठको कोतरानेवाले (घुण)की तरह, **एव** = ही, **यः** = जो, **प्रणयः** = प्रेम, **अंतरतः** = अंदरसे, (अंदर रहकर) **प्राण–भृताम्** = प्राणधारण करने वालोंके, **अशेष–सारं** = संपूर्ण सार (सामर्थ्य, धैर्य, सत्त्व, ज्ञान, विवेकादि) को, **चरति** = खा जाता है, **उपाय–लक्षैः** = लाखों

उपायोंसे, (जो), **न** = नहीं, **अपगच्छति** = दूर होता है, **सः** = वह (प्रणय), **किं** = क्या, **सुखाय** = सुखके लिये (होता है) ?! (अथवा, **किंसुखाय** = खराब सुख के लिये अर्थात् दुःखके लिये, ही होता है ।)

भावार्थ :

हे व्रजनाथ ! काष्ठको खा जाने वाले कीट (दीमक)की तरह ही जो प्रेम अंदर रहाकर प्राण धारण करने वालोके संपूर्ण सार (विवेकादि) को खा जाता है, लाखों उपायोंसे दूर नहीं होता है, वह (प्रणय) क्या सुखके लिये होता है ? (दुःखद ही होता है ।)

मञ्जुश्री :

हृदयमें प्रणयकी पीडा :

इन्द्रके आसार (वृष्टि)में से ब्रजके सारको संपूर्ण सुरक्षित रखनेवाले आप ब्रजनाथ हो । स्वकीयोंको असार नहीं होने देते हो ! **"ब्रजनाथ"** ! हम ब्रजके हैं, आप हमारे नाथ हो ! हमको असार क्यों होने देते हो ?! हमारा तो संपूर्ण सार नष्ट होने जा रहा है ! नष्ट करनेवाला है, – प्रणय ! घुणकीट जैसा ! काष्ठको जैसे धुणकीट (दीमक जैसा जंतु) उपरसे अंदर उतरकर अंदरसे संपूर्ण (काट काटके) खा जाता है, खोखला नष्ट कर देता है; ऐसे ही प्रणय भी बाह्य–संसर्गसे अंदर हृदयमें उतरकर हृदयके सारको खा जाता है । हृदयंगत प्रणय हृदयमें शान्त नहीं रहता है, विविध मनोरथ–तरंग जगाता रहता है । संपूर्णतया भीतर उतर कर, हृदयमें घूस कर, व्याप्त होकर,

हृदयसारको प्रणय संपूर्ण नष्ट कर देता है । इसको रोकनेके लाखों उपाय करने पर भी वह रुकता नहीं है । स्वयं तो अधिकसे अधिक हृदय वेधक होता ही चलता है, परंतु प्रयत्न करने पर भी, वेदनानुभवसे उसे रोकनेको चाहने पर भी वह रुकता नहीं है ! सुविधानुसार अगर प्रणय आता–जाता तो सुखद लगें भी ! परंतु यह तो अेक ही नहीं अनेक उपाय करने पर भी आया हुआ, हृदयमें घूसा हुआ, जाता नहीं है, निकलता ही नहीं है । हृदयमें चुभता हुआ, हृदयमें रहता, हुआ, (ऊँडा ही ऊँडा) गहरा ही गहरा उतरता ही चलता है ! वह प्रणय क्या सुखके लिये होता है ?! नहीं ही । दुःख – हेतु ही हो जाता है वह तो ! संयोगमें सुखद प्रणय भी विप्रयोगमें तो हृदय–विदारक दुःखद ही हो जाता है । ब्रजनाथ जैसे अपने अंगीकृत ब्रजको बचावें ऐसे वो ही स्वप्रणयीको बचा सकतें हैं, सुख दे सकतें हैं । ब्रजनाथ होनेसे आपका तो यह ब्रत ही है । ब्रतपालनके लिये भी हमारी साररक्षा आवश्यक है । वह तो संयोगदानसे ही संभवित है; नहीं तो प्रणय "**किंसुखाय**" – खराब सुखके लिये ही होता है । वेदनाको पंपाल पंपालके पोषना तो प्रायः सभी संसारीओंको स्वाभाविकतासे ही मनोऽनुकूल लगता है । यही प्रणयमें भी "**किंसुखाय**" होता है । ब्रजनाथ जैसे नाथ होने पर यह योग्य नहीं है । आनंदमयसे आनन्द ही मिलना स्वाभाविक है, उचित है ।

इस श्लोकमें "**कालभारिणी**"– वृत्त है । लक्षण

है,– "**विषमे ससजा यदा गुरु चेत् । सभरा यन तु कालभारिणीयम् ॥**"

अगर संयोग न ही मिले तो विप्रयोगमें कथा – भगवन्नाम–से निर्वाह तो होता है, जीवन तो बना रहता है, परंतु अलौकिक भगवन्नाममें भी जीवका तो अधिकार नहीं है ! वह दिखातें हैं,–

विज्ञप्ति :

त्वन्नामोच्चारणेऽप्यस्ति न जीवेष्वधिकारिता ।
अलौकिकत्वात्त्वन्नाम्नस्तद्वाचो लौकिकत्वतः ॥१६॥

अन्वयार्थ :

त्वन्नाम्नः (त्वत् + नाम्नः) = तुम्हारे (आपके) नामकी, **अलौकिकत्वात्** = अलौकिकतासे, (और), **तद्वाचः (तद्–न्वाचः)** = उस (जीव)की वाणीकी, **लौकिकत्वतः** = लौकिकतासे, **त्वन्नामोच्चारणे (त्वत्–नाम–उच्चारणे)** = तुम्हारे (आपके) नामके उच्चारणमें, **अपि** = भी, **जीवेषु** = जीवोंमें, **अधिकारिता** = अधिकारिपना, **न** = नहीं, **अस्ति** = है ।

भावार्थ :

तुम्हारे नामकी अलौकिकतासे (और) उस –(जीव)की वाणीकी लौकिकतासे तुम्हारे नामके उच्चारण में भी जीवोंमें अधिकारिता नहीं है ।

मञ्जुश्री :

रूपके संबंधवाले नामसे शीघ्र कृतार्थता :

नामसे जागतिक (जगत्संबंधी) – व्यवहार चलता

है। रूपका बोधक नाम होता है। नाम जीवका होता है, – देहका नहीं। भगवानमें देह देहि भेद नहीं है। रूप – नाम – (उभय)-से भगवान् क्रीडा करतें हैं। रूप तो साक्षात् संयोगमें सुलभ होता है। नाम तो परोक्ष विप्रयोगमें भी सुलभ होता है। रूपसे तो अवतारदशामें संबंधमात्रसे भगवान् कृतार्थ करतें हैं। वह संबंध फिर कामसे हो या क्रोधसे, वा भयसे वा स्नेहसे या एकतासे वा सौहार्दसे ! नाम तो अनवतारदशामें भी सबको उच्चारणादि–मात्रसे पावन करतें हैं। ज्ञान – भक्ति भी अनवतार दशामें आवश्यक हैं। भगवानके नाम रूप और लीला उभयके द्योतक होते हैं। नाम रूप और लीलाके अनुसंधान–पूर्वक लेनेसे शीघ्र कृतार्थ करतें हैं। जैसे **"अग्नि – अग्नि"** बोलने – मात्रसे अग्नि दाहक नहीं लगता है, परंतु स्पर्शसे अग्नि दाहक होता है। नाम – मात्रका नहीं, रूप–संबंधित नामका विशेष सामर्थ्य होता है।

संकेत–मात्रसे, परिहासमें, व्यर्थतामें, अवहेलनासे, भी दिये हुए – उच्चारित – भगवन्नाम पावन कर देतें हैं; परंतु जब कृपापूर्वक दिये जाते हों, भगवानने नाम द्वारा कृपासे कृतार्थ कर देना चाहा हो, नामका आधिदैविक–रूप जागृत हो गया हो, तब नाम अवश्य ही कृतार्थ करता है। शास्त्रमें (नाम) महिमा इन नामोंका होता है। भगवानके नाम भी नामात्मक भगवानके रूप हैं। भगवानके रूप और नाम नित्य – अनंत – उपकारक – समर्थ – होते हैं।

सतत भगवन्नाम–रटण जरूरी है :

भगवन्नाम अलौकिक है, जीव तो देता है,–लौकिक ही रीतिसे ! इससे यथार्थ लाभ नहीं होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने, भगवानका नाम एक दफा भी देनेसे जीवकी कृतार्थता हो जाती है, –ऐसा श्रीवल्लभाचार्यजी महाप्रभुको कहा। तब श्रीवल्लभाचार्यजीने कहा, – "बात तो योग्य ही है, भगवन्नामकी महिमा ऐसी ही है, परंतु जीव भगवन्नाम लौकिक – रीतिसे देता है, इस लिये एक दफा भी भगवन्नाम लिये बिना रहे तो गतार्थ हो जाता है। इस लिये सतत भगवन्नाम लेते रहना चाहिये।"

अभिमानीओंको अलौकिक भगवन्नाम देनेका अधिकार नहीं है :

जीवके वाणी–विचार–व्यवहार सब ही लोक–संबंधी (लौकिक) है। भगवदंश होते हुए भी, भगवदिच्छासे, भगवद्धर्म एवं आनन्दके तिरोधानसे, जीवको बंधन और विपर्यय अविद्या संबंध होनेसे होतें हैं। लौकिक–इच्छावाला, प्राणधारण–प्रयत्नवान्, जीव सदोष हो जाता है। भगवान् – भगवद्रूप – भगवन्नाम तो अलौकिक – अप्राकृत – निर्दोष हैं। इन रूप और नाममें आकार और अक्षर–(वर्णादि, में लोकाकृति–सादृश्य (लोक – समानता) दिखाई देने पर भी भगवानके रूप–नाम लौकिक नहीं, अलौकिक ही हैं। प्राकृत – सदोष – जीवको इसमें अधिकार ही

नहीं है । अधिकार फलमें उपकारक होता है । अधिकार न होनेसे नाम लेने पर भी फल नहीं होता है । जन्म–ऐश्वर्य–श्रुत(विद्या)–श्रीका अभिमान जिन लोगोंको होता है, इनको भी भगवन्नाम देनेका अधिकार नहीं होता है । भगवन्नामोच्चारका भी इन जीवोंको अधिकार नहीं है । नामोच्चारसे भी उन लोगोंको फल–लाभ नहीं होता है ।

इस पद्यमें "**अनुष्टुप्**" छंद है ।

अगर जीवका नामोच्चारणमें अधिकार न हो, तो नाम एवं तत्प्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हो जाय, जीव भी कृतार्थ न हो सके, इस लिये जीवकी नामोच्चारकी अधिकारिताका प्रतिपादन करतें हैं,–

विज्ञप्ति :

एवं सत्यपि जानामि त्वन्नामादिप्रभाववित् ।
उद्यदेव स्वयोग्यत्वं कुर्वदेव हि राजते ॥१७॥

अन्वयार्थ :

एवं = इस प्रकार, **सति** = होते हुए, **अपि** = भी, **त्वन्नामादि प्रभाव वित्** (**त्वत् – नाम – आदि – प्रभाव – वित्**) तुम्हारे नाम (रूप–कृपा) आदिके प्रभावको जाननेवाला, **जानामि** = (मैं) जानता हूँ, (कि आपका नाम), **उद्यत्** = उदय होते हुए, **एव** = ही, **स्व–योग्यत्वं** = स्वयोग्यता, **कुर्वत्** = करते हुए, **एव** = ही, **हि** = निश्चय–पूर्वक, **राजते** = विराजता है ।

भावार्थ :

इस प्रकार होते हुए भी तुम्हारे नाम (रूप – कृपा) आदिके प्रभावको जानने वाला मैं जानता हूँ कि आपके नाम आदि उदय होते हुए ही स्वयोग्यता करते हुए निश्चयपूर्वक विराजता है ।

मञ्जुश्री :

प्रमेय – बलसे अधिकार :

प्रमाण–बलसे जो संभव नहीं वह प्रमेय–बलसे सिद्ध हो जाता है । भगवानके नामका उच्चारण करनेका जीवको अधिकार नहीं है, परंतु स्वयं भगवन्नाम ही, अपने उदय – मात्रसे ही, प्रमेय–बलसे यह अधिकार सिद्ध कर देता है । भगवानके रूप – नाम – शास्त्र–भक्ति – कृपा – भक्त – आदि समर्थ हैं, स्वतंत्र हैं । अपने उदय – मात्रसे ही जीवको अपने योग्य बना देतें हैं । जीवकी पात्रता – प्रयत्न – परिस्थिति – इच्छा – आदिकी कोई भी आवश्यकता इसमें तनिक भी नहीं रहती है । यहाँ उदय होता है,– कृपापूर्वक नामका, नामके आधिदैविक स्वरूपका, लीला–स्वरूप – विशिष्ट – नामका ! वह जीवको भगवन्नामयोग्य – अधिकारी बना देता है । वह स्थिर बिराजता है, तिरोहित नहीं हो जाता । सबको यह ज्ञात नहीं होता है । स्वरूप – नाम – कृपादिका प्रभाव कृपासे अथवा कृपाजन्य भावसे (भक्तिसे) ही ज्ञात होता है । श्रीगुसांईजीको यह ज्ञात है । आप तो श्रीचन्द्रावलीजीका स्वरूप हैं, कृपा–भक्ति – (उभय) विशिष्ट हैं । वास्तवमें तो आप स्वयं ही श्रीनाथजी हैं । लीलावैशिष्टयसे श्रीगुसांईजी रूपसे प्रकटें हैं ।

श्रीसुबोधिनीके मंगलाचरण – “**वन्दे श्रीकृष्णदेवं** – “में श्रीमहाप्रभुजीने,” – यस्यासीद्रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिवच्च स्वतंत्रम् । शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति मुदा....।” यहाँ **भक्ति–स्वरूप – शास्त्र (नाम)** तीनोंको स्वतंत्र कहें हैं । तीनों ही फलदानमें स्वतंत्र हैं । अतः नाम भी स्वतंत्रतासे अधिकारका संपादन एवं फलदान करनेमें समर्थ है, – करता है । आप यह जानतें हैं ।

इस श्लोकमें अनुष्टुप् छंद है ।

सर्वाधिकार–अंगीकारसे है । ऐसे अनुगृहीत – अंगीकृत होनेके लिये कृपा ही आवश्यक है, याचतें है,–

विज्ञप्ति :

त्वदङ्गीकृतयो जीवेष्वधिकारा यतः प्रभो।
अतस्ते न विचारार्हाः कृपां कुरु कृपानिधे ॥१८॥

अन्वयार्थ :

प्रभो = हे समर्थ, स्वामिन् ! **त्वदङ्गीकृतयः (त्वत्–अंगीकृतय)** = तुम्हारे (किये हुए जीवके यथेच्छ) अंगीकार, (ही ऐसे हैं कि), **यतः** = जिससे, **जीवेषु** = जीवोंमें, **अधिकाराः** = (भगवदिच्छानुसार, लीलानुरूप) अधिकार, (संपन्न हो ही जातें हैं), **अतः** = इसलिये, **ते** = वे (अधिकार), **विचारार्हाः** = विचारयोग्य, **न**= नहीं हैं, **कृपा–निधे** = हे कृपाके भण्डार, **कृपां** = कृपा, **कुरु** = करें ।

भावार्थ :

हे प्रभो ! तुम्हारे किये हुए अंगीकार (ही ऐसे है कि जिससे जीवोंमें अधिकार (संपन्न हो ही जातें हैं; इसलिये वे (अधिकार) विचारयोग्य नहीं हैं, हे कृपानिधे ! कृपा करें ।

मञ्जुश्री :

वरणरूप भगवद–विचारसे जीवका अधिकार :

सृष्टिके आरंभमें, जीवोंको लीलार्थ व्युच्चरित करते समय, भगवानने बिचार कर ही परखा होता है, “इस जीवको अमुक कार्य करा करके उसे अमुक फल दूँगा । ”– और ऐसा ही होता है । यह विचार ही सबके लिये अधिकार – रूप होता हैं । भगवान् स्वतंत्र हैं, समर्थ हैं, सत्यसंकल्प हैं । स्वेच्छानुसार सबकुछ कर सकतें हैं, करतें हैं । सबके स्वामी भगवान् ही हैं । जो भी जीवको स्वेच्छासे जो चाहे वह फल प्रभु देतें हैं । भगवान् जीवका अंगीकार करें, अपना बनाकर स्वीकार कर लें, उसको तो इतने मात्रसे ही सब अधिकार संपन्न हो जातें हैं । अंगीकार–विभेदसे अधिकार–विभेद होतें हैं । दास्य–वात्सल्य – सख्य – माधुर्य – भावप्रकारमेंसे किसी भी प्रकारमें भगवान् जीवका अंगीकार करें, तदनुरूप सब अधिकार जीवमें अपने आप हो ही जातें हैं । अंगीकार–बिचार ही अधिकार रूप वा अधिकार–संपादक होता है । अतः जीवके अधिकारके लिये बिचार करना उचित नहीं है । जीवका अधिकार तो आखिरमें अंगीकार पर अवलम्बित होता है । इस लिये जीवका अंगीकार कर लेना ही उचित है । नाम–रूप– भक्ति – संबंध–लीला

– आदिमें इससे ही यथायोग्य अधिकार हो ही जायेंगे । इस लिये कृपा ही करना उचित है । हे कृपानिधे ! आप कृपा ही करें, अधिकारका बिचार न करें ! कृपाके तो आप भण्डार हो ! स्वल्प कृपामात्रसे हमारा तो काम हो जायगा, और आपका कम कुछ नहीं होगा ! कृपा तो आपमें नित्य निवास करती हैं । भक्तोंको देखकर कृपामहासागर–रूप आपकी कपाके तरंग भक्तकी ओर उमडतें हैं, भक्तको आप्लावित कर देतें हैं । सामान्य समुद्रवत् कृपासागरकी लहरें वापस सागरमें नहीं लौटती हैं, भक्तमें ही समाविष्ट हो जाती हैं । आपको विनंतीसे अधिक क्या किया जा सकता है ?! सेवक तो स्वामीको बिनंती ही विनम्र–भावसे कर सकता है । वह तो कर ही रहें हैं । स्वीकार तो स्वामीके हाथकी बात होती है ।

यह श्लोक भी "अनुष्टुप्" छंदमें है ।

अंगीकारसे ही अधिकार–संपन्नताकी बात करते ही, स्वांगीकार–स्मृति हो गई, और साधिकार विज्ञप्ति कर दी :

विज्ञप्ति :

साधिता भवतु साधितार्थता
बाधिताविहिताऽधिकारिता।
क्वापि कापि गतिरुत्सुकाऽस्म्यहं
राधिकाचरणदासिका परम् ॥१९॥

अन्वयार्थ :

साधितार्थता (साधित–अर्थता) = सिद्ध

पुरुषार्थता, **साधिता** = सिद्ध – सफल,(अथवा स – आधिता = मनोव्यथाके भाव सहित, आधिपनाके साथ), **भवतु** = हो, **अर्थ– विहिताधिकारिता (अर्थ – विहित – अधिकारिता)** = पुरुषार्थके लिये शास्त्रोक्त अधिकारिता, **बाधिता** = बाधित (अवरुद्ध), (हो), (मेरी) **क्व** = कहीं, **अपि** = भी, **का** = कोई, **अपि** = भी, **गति** : = गति (फल–प्राप्ति), (हो), **परं** = परंतु, **अहं** = मैं, **उत्सुका** = उत्सुक **राधिका–चरण–दासिका** = (प्रभुकी प्रियतमा) श्रीराधिकाजीकी चरणदासिका, **अस्मि** = हूँ ।

भावार्थ :

सिद्ध हुए पुरुषार्थ सफल हो (वा मनोव्यथाके साथ हो), पुरुषार्थके लिये शास्त्रोलक्त अधिकारिता बाधित (हो) कहीं भी – कोई भी – (मेरी) गति (हो), – परंतु मैं (तो) उत्सुक हूँ, श्रीराधिकाजीकी स्वल्प (तुच्छ) चरणदासी हूँ ।

मञ्जुश्री :

कृपैकलभ्य – परमफल है, – श्रीराधिकाजीका चरणदास्य :

धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष ये चार पुरूषार्थ माने गयें हैं । दुःखः–निवारक एवं सुख–साधक इनको कहें गयें हैं । शास्त्रीय – अधिकार तो इन पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेके लिये बताये गये साधन या प्रक्रियाएं करनेकी योग्यता होती है । लौकिक – पारलौकिक – पुरुषार्थ सफल –सिद्ध – हो; अथवा मनोव्यथा सहित हो;

अथवा शास्त्रोक्त साधनाधिकार बाधित हो, पुरुषार्थ – प्रयत्न – पात्रता हो या न हो, गति भी कोई भी हो, कहीं पर भी हो, कुछ परवाह नहीं है। मैं तो उत्सुक हूँ; मेरे प्रियतम श्रीकृष्णकी प्रियतमा श्रीराधिकाजीकी तुच्छ चरणदासिका हूँ। इससे बडा कोई फल नहीं है। पुरुषार्थ – प्रयत्न(साधन) – पात्रतादिसे भी यह चरण–दास्य कभी भी सुलभ है ही नहीं ! विशेष कृपालभ्य ही है यह तो ! भगवान् श्रीकृष्णके चरण दास्यसे भी अधिक है, – श्रीराधिकाजीका चरणदास्य ! भगवानके भक्तको उत्तम नहीं कहे गये हैं, भक्तके भक्तको सर्वोत्तम माने गयें हैं। प्रियकी सेवासे प्रिय जितने प्रसन्न नहीं होतें हैं, इतने तो प्रियके प्रियकी सेवासे प्रसन्न हो जातें हैं। श्रीस्वामिनीजी तो प्रिय (प्रभु)की प्रियतमा है। इनके समान वा इनसे अधिक कोई है ही नहीं ! भगवान् अपने धाम अक्षर–ब्रह्म (व्यापि–वैकुंठ) में – नित्यलीलामें – इनके साथ नित्यलीला–विहार–मग्न रहतें हैं। जिसकी दिशा भी कुयोगीयोंको बारंबार दूर ही दूर होती है। योगसिद्धि – लोकप्रसिद्धि अथवा जीवन–जरूरतें – (लौकिक–जीवननिर्वाहकी आवश्यक वस्तु– पदार्थादि) प्राप्त करनेमें लगे हुए लोग कुयोगी हैं। इनको तो भगवद्दिशा भी बारंबार दूर है। विशेष कृपासे ही प्रभुप्रियत्व, लीलालाभ, सेवास्वीकार, साक्षात्सन्निधि मिल सकतें हैं। श्रीगुसांईजी अपनको मुख्य श्रीस्वामिनीजीकी चरणदासिका कहतें हैं। ऐसे परम

सौभाग्यसे अहंकार न हो, इसलिये अल्पार्थमें “कन्”–प्रत्यय करते हुए, – अपनको **दासी** नहीं, परंतु “दासिका” कहतें हैं। हम तो हमारी श्रीस्वामिनीजी की तुच्छ अल्प दासी है। दासीको उदासी कभी नहीं आने देतें हैं, इसके समर्थ स्वामी ! इस प्रेम–विश्वास – निर्भरतासे निर्भयता है। स्वाधिकार ही अंगीकारसे बता दिया है।

यहाँ **रथोद्धता”** छंद है । लक्षण है– **“रात् परैर्नरलगै रथोद्धता”** ।

आत्मियतासे प्रभु जिसका अंगीकार करें, अनुग्रह उसको हो ही जाता है, – परंतु इसमें विलंब तो भक्तको असह्य है, – यह बतातें हैं –

विज्ञप्ति :

मदीयोऽयमिति ज्ञात्वा न कस्मै त्वं प्रसीदसि ।
यादृशस्तादृशो वाऽहं तव चेत्किं विलंबसे ॥२०॥

अन्वयार्थ :

अयं = यह (जीव), **मदीयः** = मेरा (है), **इति** = ऐसा, **ज्ञात्वा** = जान कर, **त्वं** = तुम (आप), **कस्मै** = किसके लिये (उपर), **न**= नहीं **प्रसीदसि** = प्रसन्न होते हो ?! **वा** = अथवा, **अहं** = मैं, **यादृशः** = जैसा (भी हूँ), **तादृशः** = तैसा, **चेत्** = अगर, **तव** = तुम्हारा (हूँ), (तो) **किं** = किस प्रयोजनसे, **विलंबसे** = (तुम) विलंब करते हो ?!

भावार्थः

यह (जीव) मेरा (है), – ऐसा जानकर तुम किसके

उपर प्रसन्न नहीं होते हो ?! अथवा, मैं जैसा (भी हूँ) तैसा अगर तुम्हारा (हूँ तो) विलंब क्यों करते हो ?!

मञ्जुश्री :

भगवान् और भक्तका परस्पर मेरापन पुष्टिभक्ति है :

भगवान् जीवको अपना मानें यह तो होता है – अनुग्रह – अंगीकार ! जीवके पासमें कोई साधन–सहाय– सामर्थ्य –संयोग–सुपात्रतादि ऐसे नहीं है कि जिससे भगवान् प्रसन्न हो ! जब भगवान् अपने आप जीवको कृपासे ही स्वकीय मानतें हैं, तब उसके पर प्रसन्न हो जातें है । **“कस्मै”**– किसके लिये – किसके उपर – नहीं प्रसन्न होतें है ?! अर्थात् जीवके पात्रता – परिस्थिति – प्रयत्न – इच्छा – आदिको देखे भी बिना स्वतः स्वकीयतासे संतुष्ट हो जातें हैं, – भगवान् । लोक(संसार)में भी लोक जिसको, “मेरा है”,– मानतें हैं, इसके लिये स्वेच्छासे सब कुछ करतें हैं । उसके उपर स्वाभाविक प्रसन्न रहतें हैं । लीला लौकिक न होने पर भी लोकवत् तो है ही । इससे भगवान् भी जिसको, “मेरा है”–मानतें हैं, उसके लिये सबकुछ करतें हैं, प्रसन्न रहतें है । भगवान् जिसको,–“मेरा है”, – मानतें है, उसके ही हृदयमें भगवानके प्रति भी, “मेरा है” – भाव जगता है । भगवान् भक्तको मानें, – “मेरा है”; भक्त भगवानको मानें,–“मेरा है”; यह परस्पर –“मेरा है”, – मेरापन – ममत्व – पुष्टिभक्ति है । पुष्टिमें भगवान् विलंब नहीं

करतें है । मैं जैसा भी हूँ तैसा तुम्हारा हूँ । गुण–दोष–वाला, पात्रापात्र, योग्यायोग्य, जो कुछ भी हूँ अगर तुम्हारा हूँ तो क्यों विलंब करते हो ?! भक्तिमार्गमें विलंब तो दण्ड होता है ! यहाँ **“चेत्”** दौर्लभ्य–सूचक है । भगवानके हो जाना दुर्लभ है, – जीवके प्रयत्नोंसे । संभव है, –सुलभ हो जाता है, – केवल कृपासे ! कृपामें विलंब नहीं होता है, फिर बिलंब क्यों ?!

इस श्लोक **“अनुष्टुप्”** वृत्तमें है ।

अंगीकृतिके अतिरिक्त (बिना) भी प्रभु–प्रसन्नताका साधन बतातें हैं, – दीनता !

विज्ञप्ति :

आचार्यचरणैरुक्तं दैन्यं त्वत्तोषसाधनम् ।
स्वल्पं बहुतरं वापि तदस्तीति प्रसीद मे ॥२१॥

अन्वयार्थः

त्वत्तोष–साधनं = तुम्हारे संतोषका साधन, **दैन्यं** = (भक्तोंकी) दीनता, (है,ऐसा), **आचार्य–चरणैः** = महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य – चरणोंने, **उक्तं** = कहा है, **तत्** = वह, **स्वल्पं** = थोडा, **वा** = अथवा, **बहुतरं** = कुछ अधिक, **अपि** = भी, **मे** = मेरा, **अस्ति** = है, **इति** = इस प्रकार, **प्रसीद** = (मेरे पर आप) प्रसन्न हो ।

भावार्थ :

तुम्हारे संतापका साधन (भक्तोंकी) दीनता (है, ऐसा) श्रीमदाचार्यचरणने कहा है; वह थोडी या कुछ

अधिक भी मेरी है, इस प्रकार (मेरे पर आप) प्रसन्न हो।

मञ्जुश्री :

त्रिविध दीनता : पुष्टिदीनतासे प्रभुप्रसन्नताः

श्रीमहाप्रभुजीने रासपंचाध्यायी श्रीसुबोधिनीजीमें कहा है, – "**भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम्।**" – भक्तोंकी दीनता ही एकमात्र साधन है, – हरिके संतोषका ! संसारीओंकी दीनता तो स्वार्थवश – दांभिक–क्षणिक – बरबस होती है, – हीनता ही बन जाती है। मार्यादिकोंकी दीनता भवपाशमेंसे अपनी मुक्ति होनेके लिये होती है। "**भवपाशमें निबद्ध मेरा मोक्ष कैसे होगा ?!**" इस प्रकार मनकी आकुलता, दीनता होती है, – इनलोगोंकी ! भक्ति – मार्गीयोंकी दीनता स्वदोष स्फुर्तिसे एवं अपने प्रभुके लिये होते हुए तापभावमेंसे होती है। निःसाधन–दशामें दीनता स्वाभाविक सिद्ध होती है। भगवान् संसारी एवं मार्यादिक दीनतासे नहीं, भक्तोंकी दीनतासे ही प्रसन्न होतें हैं। ऐसी दीनता मेरेमें कुछ तो है, वह स्वल्प हो या अधिक हो ! है तो सही ! स्वल्पत्व वा अनल्पत्व महत्त्वका नहीं है। महत्त्व है, – दीनताका ! यह तो मेरेमें है। इसलिये आप प्रभु मेरे पर प्रसन्न हो।

यहाँ "**अनुष्टुप्**" छंद है।

प्रभु तो कृपा करतें ही हैं, परंतु मन तो अधीर हो जाता है यह कहतें हैं,–

विज्ञप्ति :

प्रभुस्त्वमेव मे नाथ यत्करोषि वरं हि तत्।
तथाप्यधीरतामेव मानसं मेऽवलम्बते॥२२॥

अन्वयार्थ :

नाथ = हे नाथ !, **त्वं** = तुम, **एव**= ही, **मे** = मेरे, **प्रभुः** = (समर्थ) स्वामी (हो), **यत्** = जो (कुछ), **करोषि** = (तुम) करते हो, **तत्** = वह, **हि** = निश्चय पूर्वक, **वरं** = उत्तम, (ही), (है), **तथापि (तथा–अपि)** = फिर भी, **मे** = मेरा, **मानसं** = मन, **अधीरतां** = अधीरताका, **एव** = ही, **अवलम्बते** = आधार करता है।

भावार्थ :

हे नाथ ! तुम ही मेरे समर्थ स्वामी हो, जो कुछ तुम करते हों वह निश्चय–पूर्वक उत्तम ही है, फिर भी मेरा मन अधीरताका ही आधार करता है।

मञ्जुश्री :

भगवान् और भक्तकी परस्परमें अधीरताः

प्रभुके पास जीवको अपेक्षा ही क्यों रखनी चाहिये ?! भगवान् निजेच्छासे सबकुछ करतें हैं। स्वेच्छासे या अविकृत भक्तेच्छासे ! अगर हम भक्त हैं तो अपनी इच्छानुसार ही भगवान् करेंगें। नहीं तो भगवदिच्छानुसार ही होगा। फिर तो अपेक्षा रखनी ही व्यर्थ है। भगवान् सर्वसमर्थ स्वामी है। भक्तको याञ्चा–उपदेश – उपताप – ऐश्वर्यादि देनेवाले नाथ है,

भक्तिमार्ग के पक्षपाती है । भक्तिमार्गमें **"नाथ !"** कहा जाता है,– भगवानको ! सर्वसमर्थ नाथ अपने भक्तके लिये जो कुछ भी क़रतें हैं, वह सर्वोत्ताम ही है । प्रभुकी इच्छाके बिना कुछ भी हो सकता नहीं है । भक्तके जीवनमें जो कुछ भी बनता है, वह भगवदिच्छासे ही, भक्तहितका, सर्वोत्ताम ही बनता है । फिर तो घिघिआना क्यों ?! आवश्यक नहीं है, – प्रभुसे कुछ कहना । फिर भी मन तो अधीर हो ही जाता है । भक्तिमार्गमें तो भगवान् भक्तके लिये और भक्त भगवान के लिये अधीर हो ही जातें हैं । स्वाभाविकता है यह स्नेहकी ! मन स्नेहाधीनतासे अधीर हो जाता है । क्या करें ?! नाथसे निवेदन ही करतें हैं । सेवककी यह स्वाभाविकता है । सेवकधर्म भी ऐसे श्रीगुसांईजी जीवको सिखातें हैं ।

यहाँ **"अनुष्टुप्"** छंद है ।

अधीरतासे अधिक कहतें हैं,–

विज्ञप्ति :

यदि प्रसन्न एवासि त्वदीयोऽहं न चान्यथा ।
न त्वेदहं तथैवाऽस्मि स्मर स्वानुग्रहं मयि ॥२३॥

अन्वयार्थ :

यदि = अगर, **प्रसन्नः** = (तुम) प्रसन्न, **एव** = ही, **असि** = हो, (तो), **अहं** = मैं, **त्वदीय :** = तुम्हारा, (हूँ), **अन्यथा** = ओर प्रकार, **न** = नहीं (है), **चेत्** = अगर, **न** = (तुम प्रसन्न) नहीं (हो), (तो) (भी), **अहं** = मैं, **तथा** = तैसा (तुम्हारा), **एव** = ही , **अस्मि** = हूँ,

मयि = मेरे पर, **स्वानुग्रहं (स्व–अनुग्रहं)** = (तुम्हारी) अपनी कृपाको, **स्मर** = –याद करें ।

भावार्थ :

अगर (तुम) प्रसन्न ही हो (तो) मैं तुम्हारा (हूँ), ओर प्रकार नहीं है । अगर (तुम प्रसन्न) नहीं (हो) (तो भी), मैं तैसा (तुम्हारा) ही हूँ । मेरे पर अपनी कृपाको याद करे ।

मञ्जुश्री :

भगवानकी अंगीकृति नित्य है :

भगवान् प्रसन्न हो तो भी अनुग्रहसे जो अंगीकृत है ऐसा जीव तो भगवान्का ही होता है, और अगर भगवान् अप्रसन्न हो तो भी अंगीकृत जीव तो भगवान्का ही होता है । भगवान्की अंगीकृति नित्य होती है, प्रसन्नता तो स्वाभाविक होती है । अप्रसन्नता तो क्वाचित् कदाचित् जीवके कोई अपराधसे आ–जाती है, परंतु वह स्थिर नहीं रहती । प्रभु जीवके हितके लिये, सावधान करनेके लिये, दण्डदानके रूपमें भी, अप्रसन्नता दिखलातें हैं । पुनः तो जीवकी दीनतासे प्रसन्न ही हो जातें हैं । जीव तो प्रत्येक अवस्थामें अंगीकृत रहता ही है । अनुग्रह अचल रहता है । यही बात प्रभुको आप – श्रीगुसांईजी – याद करनेकी विनंती करतें हैं । यह स्मृतिसे पुनः दृढांगीकारसे संयोग सुलभ हो जाय ! यह ही अभिलषित है ।

"अनुष्टुप्" छंद है ।

कोई अपराधसे अप्रसन्नता हो, इससे यह परिस्थिति

हो, तो भी जीवकी और नहीं, अपनी और देखकर योग्य करनेके लिये बिनंती करतें हैं; –

विज्ञप्ति :

यादृशी मे कृतिर्नाथ तस्याः फलमिदं कियत् ।
यादृशस्त्वं प्रभुः किन्तु तादृगेव विधीयताम् ॥२४॥

अन्वयार्थ :

नाथ = हे नाथ !, **यादृशी** = जैसी, **मे** = मेरी, **कृतिः** = कृति (कार्य, अपराध), (है), **तस्यः** = उसका, **इदं** = यह (विप्रयोग–रूप, सेवाविच्छेद रूप), **फलं** = फल, **कियत्** = कितना ? **किंतु** = परंतु, **यादृशः** = जैसे, **त्वं** = तुम, **प्रभुः** = (समर्थ) स्वामी, (हो), **तादृक्** = तैसा, **एव** = ही, **विधीयताम्** = करो (करना चाहिये, करना जरूरी है) ।

भावार्थ :

हे नाथ ! जैसी मेरी कृति है, उसका यह फल कितना ? परंतु तैसे तुम स्वामी (हो), जैसा ही करो ।

मजुश्री :

जीवकी ओर नहीं अपनी ओर देखके प्रभु कृपा करें :

जीव तो स्वभावसे दुष्ट ही है । स्वभावका प्रभाव तो उसके प्रत्येक कार्यमें होगा ही । भाव भी उससे दब जाता है ! दुष्ट स्वभावसे कार्य भी दुष्ट होंगे ! निर्दोष भगवान्को दुष्ट कार्यसे अप्रसन्नता हो, यह भी स्वाभाविक है । निर्दोष और सदोषका सुमेल कैसे हो सकता है ?! मैंने तो स्वाभाविकतासे अपराध कर ही दीया है । लीलामें चन्द्रावलीजी – रूपसे ललिताजीका प्रसंग तो हुआ ही है, – इसका भी निर्देश यहाँ पर हो जाता है । उसका फल तो कितना ?। कितना भोगना पडता है ?। आप तो नाथ हो !

भक्तोंको यथोचित प्रदान करने–वाले हो, सर्वसमर्थ स्वामी हो । आप तो स्वेच्छासे फलदान करते हो ! जीवकृतिके अनुसार फलदान तो सामान्य – मर्यादा – है । पुष्टि – विशेणता तो स्वतंत्र फलदानमें है । सर्वसमर्थ स्वतंत्र ही होता है । जीवकी कृतिके सामने देखे भी बिना, स्वेच्छासे, स्वतंत्रतया, फलदान करनेमें आप समर्थ हो, करते भी हो, तो आप जैसे स्वतंत्र – समर्थ – कृपालु – स्वामी हो, ऐसा ही मेरे लिये करो ! अपराधकी ओर देखे बिना स्वरूपानन्द – रूप फलका दान करो ।

यहाँ **“अनुष्टुप्”**– छंद है ।

प्रभुको औचित्य दिखाते हुए, अधिक निवेदन करतें हैं,–

विज्ञप्ति :

अपि मे सापराधस्य शिक्षितस्याप्यजानतः ।
हा नाथ पालनीयस्य किमुपेक्षोचिता तव ॥२५॥

अन्वयार्थ :

हा नाथ ! = हा ! नाथ !, **शिक्षितस्य** = शिक्षित, **अजानतः** = अनजान, **सापराधस्य (स–अपराधस्य)** = अपराध – सहित, **पालनीयस्य** = रक्षण करने योग्य,

मे = मेरी, **उपेक्षा** = उपेक्षा, **किमु** = क्या ?, **तव** = तुमको, **अपि उचिता** = उचित है ?!

भावार्थ :

हा नाथ ! शिक्षित अनजान (अज्ञान), अपराधी, रक्षण करने योग्य, मेरी उपेक्षा क्या तुमको उचित है ?

मञ्जुश्री :

पालनीयकी उपेक्षा प्रभुको अनुचित है :

मैं तो लीला – प्रसंग – दृष्टिसे, अथवा जीव – दृष्टिसे, अपराधी हूँ । शिक्षित हूँ, फिर भी अज्ञान हूँ। लीलाविषयिका भगवदिच्छा तो केवल भगवान् ही जानतें हैं । भगवदिच्छा क्या है ? – यह तो कोई भी जान सकता नहीं है । घटी हुई घटनाके उपरसे अनुमान – मात्र हो सकता है, – कि ऐसा हुआ है तो भगवदिच्छा ऐसी होगी ! लोक तो सब, इससे अनजान होते हैं । लीलेच्छा नहीं जान सकने पर, अपराध कर बैठने पर, भी हम तो अनुग्रह से हुई नित्य–अंगीकतिसे आपके ही है । इस लिये सर्वथा हम तो आपके पालनीय है । हमारा पालन करना आवश्यक है । फिर भी हमारी ऐसी उपेक्षा क्या आपके लिये उचित है ?!! सर्वथा नहीं ही । इस लिये शीघ्र ही हमारा पुनः पूर्वतत् सेवा–लीलामें अंगीकार करो ।

यहाँ **'अनुष्टुप्'**– छंद है ।

॥ इति श्रीविट्ठलेश्वर–विरचिता प्रथमा विज्ञप्तिः समाप्ता ॥